सुखी होने का उपाय

भाग – 2

नेमीचन्द पाटनी

विषय सूची

विषय	*पृष्ठ संख्या*
अपनी बात	५
सार संक्षेप	१०
मोक्षमार्ग की प्रगटता में पाँच लब्धियाँ	१५-२५
दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा	१५
धर्म का सरल मार्ग प्राप्त करने की जिज्ञासा	१७
धर्म प्रगट करने योग्य पात्र जीव एवं उनकी पाँच लब्धियाँ	१८
क्षयोपशमलब्धि	१९
विशुद्धलब्धि	१९
देशनालब्धि	२०
प्रायोग्यलब्धि	२१
करणलब्धि	२२
पाँच लब्धियों में पुरुषार्थ	२३
तत्त्वनिर्णय	२४-४३
देशना (उपदेश) कहाँ से प्राप्त हो?	२४
ज्ञानी पुरुष के अभाव में यथार्थ निर्णय कैसे हो?	२७
यथार्थ देशना प्राप्त करके भी निर्णय यथार्थ कैसे किया जावे?	२८
निर्णय करना आवश्यक क्यों?	३०
तत्त्व निर्णय करने की विधि	३१
अध्ययन पाँच प्रकार से	३४
निर्णय करने वाले की अन्तर्भूमिका	३७
निर्णय का विषय क्या हो?	३८
चारों अनुयोग	४३-५०
चारों अनुयोग का प्रयोजन	४४
पद्धति	४५
निष्कर्ष	४९
ज्ञेय तथा हेय उपादेय तत्त्वों के संबंध में	५१-६४
ज्ञेय तत्त्व	५१
ज्ञेय तत्त्वों का स्व-पर विभागीकरण	५२
स्वज्ञेय की यथार्थ खोज में परज्ञेय उपेक्षित हो ही जाते हैं	५५
स्वज्ञेय को खोजने की पद्धति	५६
परसन्मुखता कैसे दूर हो?	६०
जानना और मानना एक साथ कैसे हो सकता है?	६२
स्वसन्मुखता प्रगट करने का उपाय	६२
मात्र स्वज्ञेय तत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है	६४

स्वज्ञेय का अनुसंधान ६४-७१
स्वज्ञेय तत्त्व के अनुसंधान की पद्धति ६४
स्वज्ञेय में भी अनेकता दिखती है, मैं अपनापन किसमें मानूँ? ६७
भेदज्ञान की महिमा ६८
अनेकताओं के विभागीकरण पूर्वक स्वतत्त्व की खोज ६९
पर्याय के ज्ञानपूर्वक त्रिकाली ज्ञायक भाव की खोज ६९
तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ७२-९२
तत्त्वार्थ श्रद्धानं ही सम्यग्दर्शन है ७२
सात तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा भेद ज्ञान ७३
जीवद्रव्य और जीवतत्त्व में अन्तर ७४
द्रव्य पर्याय के भेद से सात तत्त्व ७५
हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्व ७७
स्वज्ञेय, परज्ञेय के भेद से सात तत्त्व ७७
सम्यक् श्रद्धा के साथ सम्यक् चारित्र का अविनाभावी संबंध ८०
पर्याय उपेक्षणीय कहने से स्वच्छन्दता की संभावना का निराकरण ८२
निश्चय कथन पद्धति एवं व्यवहार कथन पद्धति का अन्तर ८५
द्रव्यकर्म भावकर्म की मुख्यता से सात तत्त्वों का ज्ञान ८७
श्रद्धा प्रधानता एवं ज्ञान प्रधानता से सात तत्त्वों की समझ ८९
निश्चय के साथ व्यवहार होता ही है ९२-९८
सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ९२
निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ देव-शास्त्र-गुरु की
श्रद्धा अनिवार्य कैसे? ९३
निश्चय व्यवहार का स्वरूप ९५
निश्चय के साथ व्यवहार-मोक्षमार्ग का निमित्त
सहचारी एवं उपचारपना कैसे? ९५
प्रमाणनयैरधिगमः ९८-११८
प्रमाण, नय के लक्षण ९९
आगमशैली एवं अध्यात्मशैली १००
नयज्ञान से लाभ १०१
नयों का प्रयोजन १०२
नयों के भेद-प्रभेद १०६
निश्चय-व्यवहार नय एवं
निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग में अन्तर ११०
अनेकान्त और स्याद्वाद ११२
उपसंहार ११४
संदर्भ सूची ११९-१२०

***

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक "सुखी होने का उपाय" भाग-२ है। प्रथम भाग इसके पूर्व सन् १९९० में प्रकाशित हो चुका था।

मैंने अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी में ही रमाये रखने की दृष्टि से ये सभी रचनाएँ की हैं। इसी कारण जब-जब अपना उपयोग खाली हो सका इनके सभी प्रकरणों की रचना अलग-अलग समय टुकड़ों-टुकड़ों में की गई है। फलतः इसमें पुनरावृत्ति भी हुई है। भाषा साहित्य का ज्ञान अल्प होने से वाक्य विन्यास भी ठीक नहीं हो सका है तथा वाक्यों का जोड़-तोड़ भी सही नहीं है। अतः पाठकगण को इस दृष्टि से इसमें कमी लगेगी तथा संभव है पढ़ने में भी रुचिकर नहीं हो? लेकिन अध्यात्म के कथन तो भावना दृढ़ करने के लिये होते हैं, अतः उसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं गिना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य कमियों को भी गौण करते हुये पाठकगण विषय पर लक्ष्य रखते हुये इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे तो मैं मेरा श्रम सार्थक समझूँगा।

उपरोक्त पुस्तक के प्रथम भाग में छह द्रव्यों के अनन्तानन्त द्रव्यों की भीड़-भाड़ में खोई हुई हमारी स्वयं की आत्मा को, अनेक उपायों के द्वारा सबसे भिन्नता पहिचानकर, अन्य पदार्थों के साथ अपनी कल्पना से माने हुये सम्बन्धों को तोड़कर, अपनी स्वतंत्र सत्ता स्वीकारते हुये, अपने-आप में निम्नप्रकार की श्रद्धा जाग्रत करने का उपाय बताया गया है।

"जगत के सभी द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तंसत् हैं" उन ही में, स्वयं मैं भी एक सत् द्रव्य हूँ।" मेरी सत्ता मेरे स्वचतुष्टय में हैं। अतः मेरी सत्ता में किसी का भी प्रवेश अथवा हस्तक्षेप है ही नहीं एवं हो सकता भी नहीं। ऐसी स्थिति में मेरे को भी जगत् के किसी द्रव्य के कार्यों में

किसी प्रकार भी हस्तक्षेप करने का अधिकार कैसे हो सकता है? इसप्रकार जगत् के सभी द्रव्यों एवं उनके परिणमनों से मेरा संबंध कुछ भी नहीं होने से, वे मेरे लिये पर, उपेक्षणीय ज्ञेय मात्र हैं। अत: उनके परिणमनों के कारण मेरे को कोई प्रकार की आकुलता होने का कारण ही नहीं रहता। मेरे आत्मा का भला अथवा बुरा, हानि अथवा लाभ पहुँचाने वाला एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ, उसी प्रकार मेरा सुधार भी मैं स्वयं ही कर सकता हूँ। अत: मुझे मेरे कल्याण के लिये मेरे में ही अनुसंधान करके यथार्थ मार्ग खोजना पड़ेगा एवं अपने में ही प्रगति करनी पड़ेगी।"

उपरोक्त श्रद्धा जाग्रत कर लेने पर, आत्मार्थी अपने आत्मद्रव्य में ही यथार्थ मार्ग खोजना प्रारंभ करता है। अत: इस भाग २ में आत्मा की अन्तर्दशा, तत्त्व निर्णय एवं भेद विज्ञान।" के शीर्षक में अनुसंधान करने का उपाय बताया गया है।

उपरोक्त प्रकार से आत्मा, जब अपनी अन्तर्दशा का अनुसंधान करता है तो एक ओर तो उसको त्रिकाली स्थायी भाव ऐसा ध्रुवांश दिखाई देता है और दूसरी और क्षण-क्षण में बदलता हुआ परिवर्तनशील-अस्थाई भाव, पर्यायांश दिखाई देता है। आचार्यों ने द्रव्य के अस्तित्त्व की परिभाषा भी "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्" बताई है। ऐसे मेरे द्रव्य में हेय, उपादेय एवं श्रद्धेय की सात तत्त्व के द्वारा खोज करने के लिए इस पुस्तक में यथार्थ स्वरूप समझाया गया है।"

"उन सात तत्त्वों में, जीवतत्त्व तो ज्ञातास्वभावी ध्रुवांश है, वह तो अहं के रूप में श्रद्धेय तत्त्व है। अजीव तत्त्व मात्र उपेक्षणीय परज्ञेय तत्त्व है। आश्रवबंध पर्यायांश हैं एवं हेय तत्त्व हैं। संवर निर्जरा, पर्यायांश हैं, एवं उपादेय तत्त्व हैं। मोक्ष तत्त्व तो परम उपादेय तत्त्व है। इन्हीं में आस्रवबंध के विशेष भेद पुण्य व पाप मिलाकर नवतत्त्व भी कह दिये जाते हैं, वे भी आस्रवबंध के भेद होने से हेय तत्त्व ही हैं।"

इसप्रकार अपनी आत्मा की अन्तर्दशा को समझकर ध्रुवांशरूप ज्ञानस्वभावी स्वआत्मतत्त्व में अहंपना स्थापन करने की मुख्यता से, उपरोक्त समस्त स्थिति को भली प्रकार अनुसंधानपूर्वक समझकर, स्वको स्व के रूप में व पर को पर के रूप में मानते हुये, हेय को त्यागने योग्य, उपादेय को ग्रहण करने योग्य स्वीकार करते हुये, यथार्थ मार्ग शोधकर निकालने का उपाय अर्थात् "भेद-ज्ञान का उपाय" इसी भाग में बताया गया है।

उपरोक्त विषयों की विस्तृत जानकारी विषय सूची से जानकर पूर्ण मनोयोगपूर्वक अभ्यास करें।

आगामी भाग ३ में प्रवचनसार गाथा ८० के माध्यम से "मेरा आत्मा वर्तमान में भी अरहंत के समान है," ऐसा निर्णय करने की विधि की विस्तृत विवेचना होगी।

उपरोक्त यथार्थ निर्णय प्राप्त करने के लिये, नयज्ञान एवं उसकी उपयोगिता समझ कर, उसके यथार्थ प्रयोग की विधि तथा मेरा आत्मा वर्तमान में रागी द्वेषी दिखाई देने पर भी, वह द्रव्यदृष्टि के साथ-साथ पर्याय से भी अरहंत के समान है, ऐसा निर्णय में कैसे आता है, वह विधि भाग ३ में आवेगी। ज्ञानस्वभावी आत्मा का, स्वभाव ही स्वज्ञेय को तन्मयतापूर्वक एवं परज्ञेयों को अतन्मयतापूर्वक जानना है। अतः परज्ञेय सब ही उपेक्षणीय ज्ञेयमात्र है। अपनी पर्याय भी परज्ञेय ही है। स्वज्ञेय तो मात्र अपना ध्रुवतत्त्व ही है, आदि-आदि विषयों की चर्चा भी भाग ३ में आवेगी। इस निर्णय में उपयोगी निश्चय, व्यवहारनय का यथार्थ ज्ञान तथा नय एवं दृष्टि का अंतर समझकर, कर्तृत्वबुद्धि का अभिप्राय नाश करने का उपाय तथा आकुलता की उत्पत्ति के कारण व उसके उत्पादक कारणों का अभाव करने का उपाय आदि अनेक विषयों के समावेश भाग ३ में करने का भी संकल्प है।

इस पुस्तकमाला के आगामी भागों द्वारा अज्ञानी अप्रतिबुद्ध को निर्विकल्प आत्मानुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय विस्तारपूर्वक विवेचन करने का प्रयास किया जावेगा।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणी को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त करने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादि काल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिये दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सबही अपने चिन्तन को सच्चा मार्ग कहते थे लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शांति प्राप्त कराने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ सन् १९४३ में प्रातः स्मरणीय महान् उपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हो गया। कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी निःशंकता प्राप्त नहीं हुई, तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सबही तरह से परीक्षा कर दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा को शांति प्राप्त करने का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो मात्र एक यही है अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता। ऐसे विश्वासपूर्वक पूर्ण समर्पणता के साथ उनके सत्सागम का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ उसमें जो कुछ भी है वह सबका सब अकेले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का ही है। वे तो सद्ज्ञान के भंडार थे, आत्मानुभवी महापुरुष थे, उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन गंभीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था। उनमें से अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो तो वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है और जो कुछ भी यथार्थ है वह सब पूज्यश्री स्वामीजी का ही है। उनकी उपस्थिति में भी एवं स्वर्गवास के पश्चात भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता

रहा, उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि मुझे तो जिनवाणी के अध्ययन करने के लिये दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा ही प्राप्त हुई है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिये हम बिल्कुल अंधे थे। अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्यश्री स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या, भविष्य के भवों में भी नहीं भूल सकेगा।"

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी सादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह अन्तिम प्रयास है। मेरी उम्र ७८ वर्ष की है और इस कृति का जो भाग शेष है वह भी मेरे इस जीवन काल में सम्पूर्ण तैयार होकर प्रकाशित हो सके और आत्मार्थी बंधुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त करा सके यही एक भावना है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकाशन आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बनें इस भावना के साथ तथा मेरा उपयोग जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जिनवाणी के अध्ययन चिन्तन, मनन में लगा रहे एवं उपरोक्त यथार्थ मार्ग मेरे में सदा जयवंत रहे इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचंद पाटनी

***

सार-संक्षेप

(भाग - १)

सुखी होने का उपाय भाग-१ के माध्यम से हमने यह समझा कि इस विश्व के अस्तित्त्व पर गंभीरता से अध्ययन करें तो यह विश्व छह द्रव्यों के समुदाय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। वे छहों द्रव्य मिलकर संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त हैं। सभी द्रव्य हर समय अपनी-अपनी अवस्थाओं (पर्यायों) को किसी अन्य द्रव्य की सहायता, सहयोग अथवा हस्तक्षेप के बिना, अनवरत रूप से करते ही रहते हैं। उनके इसप्रकार के परिणमन को कोई भी द्रव्य न तो रोक ही सकता है, न अटका ही सकता है, और न किसी भी प्रकार से फेरफार ही कर सकता है। इस ही से सारे विश्व की व्यवस्था व्यवस्थित है और अनादि-अनन्त टिकी हुई है।

इन अनन्तानन्त पदार्थों अर्थात् द्रव्यों में, मैं भी एक द्रव्य हूँ। मैं भी सभी द्रव्यों की तरह किसी भी अन्य द्रव्य के हस्तक्षेप के बिना, अपने ही ज्ञानादि गुणों के परिणमन (पर्याय) को अनादि से करता चला आ रहा हूँ और भविष्य में भी अनन्तकाल तक निर्बाधगति से करता ही रहूँगा। अतः मेरे हर समय के परिणमन अर्थात् पर्याय का उत्तरदायित्व तो, मेरे अकेले का ही है।

जगत के छह जाति के अनन्तानन्त द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य एवं पर्याय अथवा कर्म आदि का मेरे परिणमन में हस्तक्षेप नहीं है। मेरी किसी भी अशुद्ध पर्याय को शुद्ध करने की जिम्मेदारी भी मेरी अकेले की ही है। इसीप्रकार अच्छी पर्याय को बिगाड़ने वाला भी अकेला मैं ही हूँ, उसके बिगाड़-सुधार करने में अन्य किसी की जिम्मेदारी नहीं है। इस ही प्रकार कोई मेरा अभाव करना चाहे अर्थात् नाश करना चाहे, तो जगत् में किसी की भी ताकत नहीं हैं, जो मेरा नाश कर दे। मैं किसी भी दशा में रहूँ, स्वयं अपनी ही पर्यायों को बदलते हुए अनन्त काल तक कायम

रहूँगा। मुझे कोई उत्पन्न करनेवाला भी नहीं हो सकता तथा नाश करने वाला भी नहीं हो सकता। ऊपर कहे अनुसार जगत् के सभी द्रव्य निर्बाधगति से स्वतंत्रतया परिणमन करते रहते हैं और उनमें हर समय कोई न कोई कार्य सम्पन्न भी होता ही रहता है। अतः हर एक कार्य की सम्पन्नता के समय पाँच हेतुओं का सहज रूप से समवायीकरण भी होता ही रहता है। उन पाँच हेतुओं में एक निमित्त नाम का हेतु भी है। कार्य की सम्पन्नता में कार्यरूप परिणमने वाले द्रव्य को एवं उसकी तत्समय की पर्याय को उपादान कहते हैं। निमित्त नाम का समवाय तो उपादान से भिन्न अन्य ही होता है। उस द्रव्य एवं तत्समय की पर्याय जो निमित्त रूप समवाय है, उसने कार्य की सम्पन्नता में किंचित्मात्र भी सहयोग नहीं किया, फिर भी उसको निमित्तकारणरूप संज्ञा, इसलिये मिलती है कि उपादानरूप द्रव्य के कार्यरूप परिणमन के समय, जगत् के अनन्तानन्त द्रव्यों में से उस द्रव्य के परिणमन में ही कार्य के अनुकूल होने की योग्यता है। इसलिए मात्र उस द्रव्य की उस समय की पर्याय को ही, उस समय के लिये उस कार्य का, निमित्त कहा जाता है। इस ही का नाम निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। व्याप्य-व्यापकता होने से कर्ताकर्म संबंध तो द्रव्य का अपनी पर्याय के साथ ही होता है और निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो उपादानरूपी द्रव्य की पर्याय का, अन्य द्रव्य की पर्याय के साथ अर्थात् अतत्स्वरूप के साथ ही होता है। अतः दोनों में बहुत बड़ा अंतर है।

प्रश्न होता है कि कार्य तो निमित्त के अनुसार ही हो रहा है,ऐसा क्यों दिखता है?

उत्तर :— जिस समय कार्य हुआ उस समय उपादानरूप द्रव्य ने अपनी पूर्व अवस्था व्यय करके, उस समय की कार्यरूप पर्याय का उत्पादन किया और उसी समय अनंत द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की पर्याय, जो उस कार्य के अनुकूल परिणमी उसको, उसी समय निमित्त-संज्ञा प्राप्त हुई। दोनों की उपस्थिति तो एक ही काल में रहती है अतः निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध भी मात्र तत्समयवर्ती पर्याय के साथ ही रहता है। अत: देखने वाला, अगर संयोग (निमित्त) को मुख्य करके संयोगीदृष्टि से कार्य को देखेगा तो वह कार्य निमित्त जैसा होने के कारण निमित्त ने उत्पन्न किया ऐसा दिखने लगता है और उसी समय उसी कार्य को स्वभाव की दृष्टि अर्थात् उपादान की दृष्टि से देखा जावे तो, वह कार्य उपादानरूप द्रव्य का ही उत्पादन है, उस ही की पर्याय है, ऐसा दिखता है। इससे सिद्ध होता है उस कार्य का उत्पादक तो नि:संदेह उपादान ही है, निमित्त नहीं, ऐसा ही विश्वास होता है। संयोगी दृष्टि तो पराधीनता की उत्पादक एवं पुरुषार्थ का घात करने वाली होने से उपादेय नहीं हो सकती। स्वभावदृष्टि की श्रद्धा, स्वाधीनता की उत्पादक है और अपनी पर्याय के विकार को अभाव करने का उग्र पुरुषार्थ जाग्रत करती है। अत: स्वभावदृष्टि ही हमारा प्रयोजन सिद्ध करने वाली होने से सर्वथा उपादेय है।

इसप्रकार हर एक द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा जाग्रत होने से, हमारी आत्मा में अनन्त निर्भयता प्रगट होती है एवं अपने गुणदोष का उत्पादक अपने आपको मानने की श्रद्धा उत्पन्न होती है। अपने दोषों का अन्य को कर्ता मानने की मिथ्या मान्यता का नाश होकर, उसको अभाव करने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है। हमारी आत्मा में पवित्रता के उत्पादन के लिये ऐसे पुरुषार्थ की अत्यन्त-अत्यन्त आवश्यकता है। उपरोक्त श्रद्धा के द्वारा अनन्त द्रव्यों से भेदज्ञान उत्पन्न होकर, अन्य सब पर पदार्थों से दृष्टि हट कर, अपने अकेले आत्मा पर ही केन्द्रित हो जाती है।

उक्त पुस्तक में ही "वत्थु-सहावो धम्मो" सूत्र की व्याख्या के माध्यम से, जगत के छह द्रव्यों का परिणमन उन-उन द्रव्यों के स्वभाव (गुणों) के अनुसार ही होता रहे, यही हर एक वस्तु का अपना-अपना धर्म अर्थात् स्वभाव है यह विषय भी स्पष्ट किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार खोज करने पर, जगत के पाँच द्रव्य तो अचेतन ही हैं, वे न तो अपना अस्तित्त्व, स्वभाव आदि ही जानते हैं और न किसी अन्य को ही

जानते हैं; इस कारण वे तो सब ही अपने अचेतन स्वभावरूप ही परिणमन करते रहते हैं, उनमें कोई भूल होने का प्रश्न ही नहीं हो सकता। उन सब से भिन्न एक मात्र जीव ही ज्ञान (चेतनाशक्ति) के द्वारा अपना तथा अन्य का अस्तित्व तथा अपने स्वभाव अथवा विभाव को जान सकता है। भूल भी वही करता है तथा भूल का अभाव भी वही कर सकता है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होती है और होना चाहिये।

उपर्युक्त सिद्धान्त स्वीकार कराकर जीव द्रव्य के स्वभाव एवं विभाव का ज्ञान भी प्रथम पुस्तक के द्वारा कराया गया है। आत्मा का स्वभाव तो मात्र जानना ही है। राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा रागादि का नाश करना चाहता है, उन्हें बनाये रखना नहीं चाहता। लेकिन ज्ञान की वृद्धि चाहता है, उसका नाश नहीं चाहता। क्रोधादि भाव आते हैं-चले जाते हैं, स्थायी नहीं रहते तथा रुकते भी नहीं हैं। लेकिन ज्ञान भाव तो स्थायी भाव है, उसका कभी अभाव ही नहीं होता। जब-जब क्रोधादि आत्मा में पैदा होते हैं, उस समय ही ज्ञान, उन क्रोधादि भावों से भिन्न रहकर साक्षीरूप से उनको जानता रहता है। क्रोधादि भावों (जिनको उनकी उत्पत्ति के काल में साक्षी रहकर जान रहा था) का अभाव हो जाने पर भी अपनी स्मृति में ज्यों का त्यों वर्तमानवत् उपस्थित रखता है, और वर्षों के अन्तराल के बाद भी जब चाहो, उस प्रसंग को आत्मा के ज्ञान में उपस्थित कर देता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव ही स्थायी है और यह ही आत्मा का स्वभाव है। क्रोधादि भाव स्थायी नहीं होने से स्वभाव नहीं हैं। अतः आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है — ऐसा अनुभव से भी सिद्ध होता है और निर्णय होकर श्रद्धान भी हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जब हर एक वस्तु का धर्म अपने स्वभाव रूप परिणमन करना ही है, तब आत्मा का भी धर्म एक मात्र स्व-पर ज्ञातारूप परिणमन करते रहना ही तो है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवान अरहन्त

की आत्मा है। जो निरन्तर ज्ञायकरूप ही परिणमती है, पण्डित दौलतराम जी ने कहा भी है —

"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन॥"

उपर्युक्त सभी ऊहापोहों के माध्यम से जीव द्रव्य का स्वभाव ज्ञान ही है - ऐसा सिद्ध होता है। अत: उन अनन्त जीव द्रव्यों में से, मैं भी तो एक जीव हूँ। अत: मेरा स्वभाव भी एकमात्र जानना ही तो है, क्रोधादि नहीं।

उक्त निर्णय के पश्चात् उस पात्र आत्मार्थी जीव को यह जानने की जिज्ञासा सहज उत्पन्न होती है कि आत्मा मात्र ज्ञायक ही कैसे है? तथा ये क्रोधादि भाव उत्पन्न ही कैसे होते हैं? और इनका अभाव भी कैसे किया जावे? उक्त जिज्ञासा की पूर्ति इस पुस्तक (भाग-२) में की गई है। जिसका विस्तार विषयसूची से ज्ञात करें।

अत: आत्मार्थी जीव को परद्रव्यों से दृष्टि हटाकर, अपने अन्दर होने वाले गुण और पर्यायों के स्वरूप एवं कार्यों को भली प्रकार समझकर, अपने में ही अहंबुद्धि प्रगट करनी चाहिये।

***

"इसलिये ज्ञायकभाव सामान्य-अपेक्षा ज्ञानस्वरूप से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह ज्ञायकभाव विशेष-अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता है। अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है।"

सुखी होने का उपाय

(भाग - २)

(आत्मा की अन्तर्दशा तत्त्व निर्णय एवं भेद-विज्ञान)

मंगलाचरण

तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनंत पर्यायै।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्रः ॥

अर्थ :— परमज्योति (ज्ञान) जयवंत रहे, जिसमें विश्व के समस्त द्रव्यों एवं पर्यायों की माला (समूह) दर्पण के समान प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभासित होती है। (ऐसी केवलज्ञान ज्योति को नमस्कार किया है।)

मोक्षमार्ग की प्रगटता में पाँच लब्धियाँ

दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा

पूर्वबद्ध पापकर्म के उदय में अच्छे नहीं लगने वाले प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। उनके मिलने पर आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर कर्तृत्वबुद्धि के अभिप्राय के कारण वे मुझे अनिष्ट हैं, इनको मैं दूर कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता के कारण द्वेषभावरूप तीव्र आकुलित होता है। इसीप्रकार अच्छे लगनेवाले संयोगों के चले जाने पर भी तीव्र आकुलित होता है। इसी द्वेष रूपी आकुलता को संसारी प्राणी दुःख कहते हैं।

पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय में इस जीव को अच्छे लगने वाले अनुकूल संयोग मिलते हैं। उनके मिलने पर अज्ञानी कर्तृत्वबुद्धि के अभिप्राय के कारण, अपने स्वभाव को भूलकर, वे मेरे हैं, मैंने इनको प्राप्त किया है, मैं इनके रखने-भोगने का अधिकारी हूँ, इनके भोगने में मुझे सुख मिलता है, — ऐसी मान्यता के कारण रखने-भोगने के राग से आकुलित होता है। इसीप्रकार अनिष्ट संयोग मिलने पर पुण्य उदय से उनका अभाव अथवा कमी हो जाने पर, 'इनको मैंने दूर किया अथवा अभाव नहीं होने

दिया आदि की मिथ्या मान्यता के कारण भी राग से आकुलित होता है। इसी आकुलता को संसारी प्राणी सुख कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से होने वाली आकुलता का मूल कारण ऐसी मिथ्या मान्यता है कि अपने आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों — जैसे शरीर आदि में अपनापना, अहंपना तथा उनके परिणमनों (पर्यायों) में कर्ताबुद्धि अर्थात् मैं इनके परिणमनों का कर्ता हूँ, उस मिथ्या मान्यता का अभाव करने का उपाय,.अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर अपने आत्मा में अहंपना (मैं पना) स्थापन करना एवं अन्य द्रव्यों के परिणमनों का मात्र साक्षी अर्थात् ज्ञाता मानकर उन सबसे उपेक्षित हो जाने से, अपना उपयोग स्व के सन्मुख होकर कार्यशील हो जाना है। यही सबसे पहला आत्मा का कल्याणकारी धर्म है। आत्मा में ऐसा धर्म प्रगट होने से उपरोक्त दोनों प्रकार की, आकुलता का आंशिक अभाव होकर, आत्मा में स्वाभाविक आंशिक शांति प्रगट होती है। उसी को चतुर्थ गुणस्थान की उत्पत्ति तथा अनन्तानुबंधी कषाय की अभावात्मक निराकुल सुख की आंशिक प्रगटता कही जाती है। ऐसे ज्ञायक अकर्तास्वभावी आत्मा की,.पर के प्रति उपेक्षा बढ़ जाने से, उपयोग स्व में स्थिरता प्राप्त करने से क्रमशः आत्मा में आकुलता घटती जाती है तथा क्रमशः स्वाभाविक निराकुल आनन्द की अनुभूति बढ़ती जाती है, वही परम उपादेय सम्यक्चारित्ररूपी धर्म है। आगम में इसी दशा को पांचवें तथा ऊपर के गुणस्थानों के माध्यम से समझाया गया है।

इसप्रकार संक्षेप में उपर्युक्त दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा प्रस्तुत की गई। समस्त जिनवाणी अर्थात् द्वादशांग इस ही का विस्तृत विवेचन है। हमको भी अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागद्वेष, सुख दुःख रूपी भावों का अभाव करके, अपने आत्मा में उपरोक्त धर्म प्रगट करने के लिए उसके स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझाकर अपनाना चाहिये।

धर्म का सरल मार्ग प्राप्त करने की जिज्ञासा

ऐसी स्थिति में हमारी एक समस्या है कि जीवन तो थोड़ा, बुद्धि कम और द्वादशांग तो अथाह समुद्र है, अतः धर्म कैसे किया जा सकेगा?

पण्डित भूधरदासजी ने ऐसी समस्या का समाधान जैन शतक में दिया है —

जीवन अलप, आयु-बुद्धि-बल-हीन, तामें,
आगम अगाध सिंधु कैसे ताहि डाकि हैं?
द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्व कला,
भवदाधहारी घनसार की सलाक है॥
यही एक सीख लीजे, याही को अभ्यास कीजे,
याही को रस पीजे, ऐसी वीर जिन वाक् है।
इतनों ही सार यही आतम को हितकार,
यही लों मदार और आगे ढूकढ़ाक (जंगल) है॥

अतः हमको तो उपरोक्त कविता में कथित धर्म ही चाहिये जो द्वादशांग का मूल कहा है। जिससे हम इस भव में ही अपना कल्याण कर सकें। यह बात असंभव भी नहीं लगती, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि तिर्यंच गति का सैनी जीव भी सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है, तो हम तो मनुष्य है! इसलिये हम इस भव में निश्चित रूप से धर्म प्रगट कर सकेंगे। यह भव चला जाने के बाद, न जाने ऐसा अवसर प्राप्त होगा भी या नहीं अतः मुझे तो अवश्य ही धर्म प्रगट करना है। ऐसे संकल्प के साथ जो आत्मार्थी धर्म समझने का पुरुषार्थ करेगा उसको धर्मप्राप्ति का सरल एवं संक्षिप्त मार्ग इस पुस्तक में बताने का प्रयास किया जावेगा।

इसप्रकार आत्मार्थी जीव को मात्र अपने कल्याण के लिए दृढ़ संकल्प एवं तीव्र रुचि के साथ धर्म का स्वरूप एवं उसको प्रगट करने की विधि समझकर अपने आत्मा में प्रगट करना चाहिए। इस ही में इस मनुष्य जीवन की सफलता है।

धर्म प्रगट करने योग्य पात्र जीव एवं उसको पांच लब्धियाँ

आत्मार्थी जीव को धर्म प्रगट करने की पात्रता का विवेचन आगम में पाँच लब्धियों के माध्यम से किया गया है।

इस लोक में अनन्त जीव द्रव्य हैं। उनमें सैनी पंचेन्द्रिय जीव के अतिरिक्त अन्य को तो धर्म प्रगट करने की योग्यता ही नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों में भी आठ वर्ष की उम्र के बाद बुद्धि परिपक्व होती है, ऐसे जीव अगर अपनी बुद्धि का उपयोग अपने आत्मा का धर्म समझने में करें तो, वे ही धर्म प्रगट करने के योग्य होते हैं। ऐसे जीवों को ही सम्यक्त्वसन्मुखमिथ्यादृष्टि कहा गया है। इन जीवों को किसप्रकार पात्रता प्रगट होती है, उसका वर्णन जिनवाणी में पाँच लब्धियों के माध्यम से किया गया है। वह समझना आवश्यक है।

मोक्षमार्गसन्मुख अर्थात् सम्यक्त्वसन्मुखजीव को ही निम्न पाँच लब्धियाँ होती हैं। वे हैं — क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य एवं करण। इनका स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार के पाँच लब्धियों के प्रकरण में निम्न प्रकार किया है —

"**क्षयोपशमलब्धि** — जिसके होने पर **तत्त्वविचार हो सके,** ऐसा ज्ञानावारणादि कर्मों के क्षयोपशम का होना।

विशुद्धिलब्धि — मोह का मन्द उदय आने से मन्दकषाय रूप भाव हों, **जिससे तत्त्वविचार हो सके।**

देशनालब्धि — जिनदेव के उपदिष्ट **तत्त्व का धारण** हो, **विचार हो।**

प्रायोग्यलब्धि — सम्यग्दर्शन प्राप्त होने योग्य **परिणामा की अवस्था का होना।**

करणलब्धि — जिसके उपरोक्त चार लब्धियाँ तो हुई हों और **अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसको सम्यक्त्व होना** हो, उसी जीव के करणलब्धि होती है।"

१. क्षयोपशमलब्धि

समझने की योग्यता के ज्ञान का क्षयोपशम (प्रगटता) तो हर एक सैनी पंचेन्द्रिय जीव को होता ही है, लेकिन जो जीव, उस ज्ञान की प्रगटता को, **तत्त्व (आत्मा) के निर्णय करने में लगावे उस ही जीव की,** ऐसी ज्ञान की प्रगटता को क्षयोपशमलब्धि कहते हैं। अगर उस ज्ञान की प्रगटता का उपयोग, वह तत्त्वनिर्णय में नहीं लगाकर संसार का प्रयोजन साधने में अथवा अन्य किसी भी कार्य में करे तो उस जीव के उस ज्ञान के क्षयोपशम को क्षयोपशमलब्धि नहीं कहते।

२. विशुद्धिलब्धि

यह तो भली प्रकार से सबको अनुभव में है कि आत्मा का उपयोग धर्म समझने (तत्त्वनिर्णय) में उसी समय लगता है, जब इस को संसार, देह तथा भोगों के प्रति आसक्ति (गृद्धता) कम होती है । कषाय की उग्रता तथा भोगों से लिप्त प्राणी को धर्म के प्रति विचार भी नहीं आता। अतः ऐसे भाव होने पर जब जीव इसका उपयोग तत्त्वनिर्णय में लगावे— ऐसे भावों की प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

विशुद्धिलब्धि युक्त प्राणी विचार करता है कि मेरे इस वर्तमान जीवन का अंत तो निश्चित रूप से होने वाला है, फिर मैं कहाँ जाकर जन्म लूँगा? वहाँ कैसे संयोग मिलेंगे? इस जन्म-मरण का अभाव कैसे करूँ? आदि-आदि विचारों के द्वारा अपने आत्मा के कल्याण के संबंध में समझने का भाव जाग्रत हुआ हो ऐसे भी विचार आवें कि इस लोक में जीव अनन्त हैं, उनमें सैनी पंचेन्द्रिय अति अल्प हैं। उनमें भी मनुष्य कितने और मनुष्यों में भी जैन कितने, उनमें भी जिन्होंने अपने ज्ञान की प्रगटता को आत्मा को समझने में लगाया हो, ऐसे जीव कितने अल्प हैं। उन अति अल्प जीवों में से मैं भी एक हूँ। अतः मैं कितना भाग्यशाली हूँ, इसलिए अपने दुर्लभातिदुर्लभ जीवन को व्यर्थ नहीं खोकर, मैं तो अपने आत्मा के धर्म को प्राप्त करूँगा आदि-आदि विचार होते हों, ऐसा

आत्मार्थी ही रुचिपूर्वक सत्समागम प्राप्त करने का प्रयास करेगा। ऐसे भावों को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

३. देशनालब्धि

उपर्युक्त पात्र जीव जब अपने आत्मा के कल्याण का मार्ग समझने के लिये सत्समागम का अभिलाषी होकर ज्ञानी गुरु के पास आता है, तब उसको जो भी उपदेश मिलता है, उसे बुद्धि में धारण कर ग्रहण करे तथा उस पर स्वकल्याण के ध्येय से गंभीरतापूर्वक विचार करे, उस ज्ञान की दशा को देशनालब्धि कहते हैं।

देशना अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने का उपदेश, उस उपदेश का ही विस्तार सारा जिनागम अर्थात् द्वादशांग वाणी है। सारी द्वादशांग वाणी के उपदेश का सार इस संसारी प्राणी को संसार दुःख से छूटने का उपाय बताना ही है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा २ में कहा भा है कि —

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणं ।
संसारदुःखतः सत्वान् यः धरत्युत्तमे सुखे ॥२ ॥

अर्थ :— मैं उस समीचीन धर्म को कहूँगा, जो कर्म (भावकर्म) का नाश करके, संसार-दुःख से छुड़ाकर इस संसारी प्राणी को उत्तम सुख (मोक्षसुख) को प्राप्त करा देवे।"

तात्पर्य यह है कि देशना अर्थात् सच्चा उपदेश वही है, जिसमें संसार भ्रमण के कारणों को समझाकर, उनके अभाव करने का उपाय बताया गया हो। उस उपदेश का विस्तार ही सारी द्वादशांग वाणी है।

ऐसी देशना को प्राप्त कर, उसका धारण हो अर्थात् अपने ज्ञान में ऐसा ग्रहण हो, जिससे आत्मा में संस्कार पड़े तथा कालान्तर में उसका विस्मरण भी न हो। उस पर विचार, मनन, चिन्तन आदि अनेक ऊहापोहों आदि के माध्यम से अपने अंतरंग में पक्का निर्णय होकर भावभासन हो। उस सारी प्रक्रिया का नाम देशनालब्धि है, आगम में भी देशना के

५ भेद कहे हैं — (१) श्रवण (२) ग्रहण (३) धारण (४) निर्धारण, (५) परिणमन । इसप्रकार देशनालब्धि का विस्तार, निर्णय होकर परिणमन होने तक है। मात्र सुन लेने का नाम ही देशनालब्धि नहीं है। उस संपूर्ण प्रक्रिया पर विस्तार से चर्चा इसी भाग में आगे करेंगे।

४. प्रायोग्यलब्धि

पूर्वकथित तीनों लब्धियों को प्राप्त जीव, जब देशनालब्धि के द्वारा शांति प्राप्त करने के उपायों को अर्थात् मोक्षमार्ग को समझ लेता है, तब उस मार्ग का प्रयोग अपने आत्मपरिणामों में करने के लिये तत्पर होता है। अज्ञानी आत्मा का उपयोग ज्ञायक अकर्तास्वभावी अपने आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में अर्थात् परज्ञेयों में दौड़ता-भागता फिरता है, इससे आकुलित हो-होकर दुःखी होता रहता है। उनके अभाव करने के उपायों को भी जिसने उपदेश के द्वारा समझ लिया हो, तथा अपने अकर्ता ज्ञायक स्वभावी आत्मा के स्वरूप को भी जिसने देशना के द्वारा यथार्थ समझ लिया हो और विकल्पात्मक ज्ञान के द्वारा उसमें अपनापन भी स्थापन कर लिया हो तथा ज्ञान में ज्ञात होने वाले ज्ञेयों का परपना व अनित्यपना आदि समझ लिया हो, आत्मा में पूर्ण संतोषवृत्ति धारण कर परज्ञेयों का आकर्षण भी कम हो गया हो; फलस्वरूप उसके उपयोग की परसन्मुखता भी ढीली होने लग गई हो। ऐसे उपायों को जिसने समझ लिया हो। ऐसा ही आत्मार्थी जीव, जब अपने आत्मपरिणामों में देशना के द्वारा प्राप्त उपायों का प्रयोग करता है, तब भेदज्ञान के माध्यम से उसका उपयोग पर से सिमटकर उत्तरोत्तर आत्मा के सन्मुख होता जाता है। ऐसी दशा में उस जीव के परिणामों में जो निर्मलता होती जाती है, उससे मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय क्षीण होती जाती है। परज्ञेयों के प्रति उत्साह-निवृत्ति होती जाती है। ऐसी आत्मपरिणामों की दशा को प्रायोग्यलब्धि के परिणाम कहे जाते हैं। ऐसे उपायों की चर्चा आगे के भागों में करेंगे।

५. करणलब्धि

उपर्युक्त चारों लब्धियों को प्राप्त जीव को ही करणलब्धि के परिणाम होते हैं। प्रयोग्यलब्धि के परिणाम वाले जीव को भेदविज्ञान के माध्यम से, त्रिकाली निज आत्मद्रव्य में स्वपना-अहंपना होता जाता है। फलस्वरूप अपने परिणामों की स्व सन्मुखता भी बढ़ती जाती है, स्व में ही एकाग्रता बढ़ती जाती है। उसके उपयोग में अनेक ज्ञेयों के आकार उपस्थित होते हुए भी उनके प्रति परपना आ जाने से आकर्षण में उनके प्रति अत्यन्त ढीलापन आता जाता है एवं अपने निज आत्मद्रव्य में आकर्षण और स्वपना बढ़ जाने से उपयोग की उस ओर एकाग्र होने की उत्सुकता बढ़ती जाती है, और उत्तरोत्तर वे परिणाम इतने बलिष्ठ होते जाते हैं कि अब वे किसी भी प्रकार से अपने ध्येय से पीछे हटनेवाले नहीं हैं। अपने निजात्मा में ही पूर्ण अहंबुद्धि प्रगट कर, परज्ञेयों के प्रति अत्यन्त उपेक्षित होने से पक्षातिक्रान्त हो जाते हैं और अपने अनन्त गुणों की सेना के साथ उपयोग को लेकर आत्मसाक्षात्कार कर, निजात्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का निश्चित रूप से उपभोग कर लेते हैं। ऐसे परिणामों का विवेचन शब्दों के माध्यम से किया जाना संभव नहीं है। वे या तो केवलीगम्य हैं अथवा अनुभवगम्य हैं, फिर भी इनका संकेत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ २६२ में निम्न शब्दों में आया है —

"सो इस करणलब्धिवाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय पर परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसी के शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जावेगा। तथा इन परिणामों का तारतम्य केवलज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोग में किया है।"

इसप्रकार करणलब्धि वाला जीव, अपने त्रिकाली अकर्तास्वभावी ज्ञायकभाव में ही आत्मबुद्धि प्रगट कर आत्मसाक्षात्कार करके, निजानन्दरस

का पानकर, सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्रगट कर लेता है। इस पर विशेष चर्चा इसी पुस्तक के आगामी भागों में करेंगे।

पांच लब्धियों में पुरुषार्थ

पाँच लब्धियों के संक्षेप में सार को समझा जावे तो इसप्रकार है— क्षयोपशमलब्धि एवं विशुद्धिलब्धि के परिणाम तो पूर्वपुण्य के उदय से वर्तमान में प्राप्त हुए इसमें वर्तमान का पुरुषार्थ नहींवत् है। लेकिन उपरोक्त संयोग मिल जाने पर भी उनका उपयोग धर्म समझने के लिये ही करना, अन्य में नहीं करना, यह तो आत्मा का वर्तमान पुरुषार्थ ही है। अतः आत्मा को उक्त संयोगों का वर्तमान में पूरा-पूरा लाभ लेना चाहिये।

देशनालब्धि — उपरोक्त दोनों लब्धि प्राप्त जीव को रुचि के द्वारा सत्समागम प्राप्त कर, सत्समागम का पूरा-पूरा लाभ उठाकर धर्म को समझने का उग्र पुरुषार्थ करना चाहिये और यह तो आत्मा का वर्तमान का पुरुषार्थ है। देशनालब्धि में तत्त्व (आत्मा) के स्वरूप का धारण एवं विचार होता है, ऐसा करने में आत्मा का ज्ञान परलक्ष्यी ही रहता है, उस ज्ञान के माध्यम से ही प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के द्वारा तत्त्व संबंधी निर्णय होता है। ऐसा निर्णय ही परोक्षरूप से अनुमानज्ञान पूर्वक विकल्पात्मक निर्णय ही कहा जाता है। इस भूमिकावाले जीव की परज्ञेयों के प्रति कर्ताबुद्धि ढ़ीली पड़ती जाने से मिथ्यात्व मंद होता जाता है तथा अनन्तानुबंधी भी क्षीण होती जाती है, रुचि उग्र होती जाती है, परन्तु आत्मा में यथार्थ शान्ति प्रगट नहीं हो पाती।

प्रायोग्य एवं करणलब्धि :— इन दोनों लब्धियों की प्राप्ति में पूर्व पुण्य के उदय का संबंध नहींवत् होकर, आत्मा की वर्तमान रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता का पुरुषार्थ ही क़ार्य करता है। देशनालब्धि के माध्यम से, जो विकल्पात्मक ज्ञान में अपने त्रिकाली अकर्ताज्ञायकभाव में, अहंपना स्थापित होकर, परज्ञेयों के प्रति परपना हो जाने से उनके प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत हो जाता है। फलतः ज्ञान स्वलक्ष्यी

होकर, देशनालब्धि में निर्णीत स्व स्वरूप में उपयोग को एकाग्र होने का प्रयास होने लगता है और वही स्वलक्ष्यी ज्ञान बढ़ते-बढ़ते करणलब्धि को पारकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि प्रायोग्य एवं करणलब्धि का रुचिपूर्वक पुरुषार्थ मात्र स्वलक्ष्यी ज्ञान की तारतम्यता ही है।

इसप्रकार पाँचों लब्धियों का संक्षेप से स्वरूप समझा, इसको समझकर आत्मार्थी जीव यथायोग्य पुरुषार्थ प्रगट करें, यही इस कथन का तात्पर्य है।

तत्त्वनिर्णय

देशना (उपदेश) कहाँ से प्राप्त हो

आत्मार्थी जीव जब धर्म समझने के लिये उद्यत होता है, तो सर्वप्रथम उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता है। कि यथार्थ-मार्ग कहाँ से प्राप्त किया जावे ?

उक्त प्रश्न का समाधान बहुत सीधा और सरल है - जिसको उस मार्ग का यथार्थ ज्ञान हो उस से ही सच्चा-मार्ग मिलेगा। जैसे — रास्ते में चलते हुए हम मार्ग भूल गए हों तो यथार्थ मार्ग एवं उसकी स्थिति, दूरी आदि जानने के लिये हम ऐसे व्यक्ति से ही सम्पर्क करेंगे, जिसको गन्तव्य स्थान के मार्ग का यथार्थ ज्ञान हो, अथवा जिसने स्वयं गमन किया हो, वह ही यथार्थ जानकारी दे सकेगा और उन जानकारियों से ही हमको उस मार्ग में गमन करना अत्यन्त सरल हो जावेगा। साथ ही आत्मविश्वास भी जाग्रत हो जाने से, मन की भटकन समाप्त होकर हमारी चलने की गति भी बढ़ जावेगी।

इसीप्रकार आत्मार्थी जीव को भी मोक्षमार्ग में पदार्पण करने के पूर्व, उसका मार्ग समझने के लिए ऐसे ही व्यक्ति से सम्पर्क करना कार्यकारी होगा, जिन्होंने स्वयं मार्ग को समझकर उस मार्ग के द्वारा प्राप्तव्य प्राप्त

कर लिया हो अथवा उसको प्राप्त करने में संलग्न हों अर्थात् साधनारत हों, वे ही सच्चे मार्गप्रदाता अर्थात् सच्चे उपदेशक हो सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि सच्ची देशना के प्रदाता तो भगवान अरहंत ही होते हैं। क्योंकि अरहंत भगवान का आत्मा भी पहले तो हमारे जैसा ही था। उन्होंने भी सच्ची देशना के द्वारा अपनी आत्मा का स्वरूप अर्थात् मोक्षमार्ग का स्वरूप समझकर, जगत से उपेक्षित होकर, अपने ही पुरुषार्थ द्वारा रुचि की उग्रतापूर्वक यथार्थ मार्ग की साधना द्वारा, पूर्णदशा-सर्वज्ञता प्राप्त की अतः वे प्राप्तव्य को प्राप्त कर चुके हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान क्षायिक हो जाने से प्रत्यक्षज्ञान हो गया, अतः उनके ज्ञान में मार्ग तथा उसके द्वारा प्राप्त आत्मानुभूति आदि सब प्रत्यक्ष होकर जो भी स्वरूप दिव्यध्वनि के माध्यम से प्रकाशित हुआ, वह ही परमसत्य मार्ग है। अतः सर्वोत्कृष्ट उपदेशक तो भगवान अरहंत ही हैं।

मध्यम उपदेशक चारित्रधारक आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी हैं, जिन्होंने यथार्थ मार्ग समझकर परिणमित होकर, उस मार्ग का फल जो आत्मा के आनन्द की अनुभूति, उसका स्वाद लिया है एवं क्षण-क्षण में ले भी रहे हैं। उनने भी मार्ग तथा मार्ग के फल को प्राप्त कर लिया है तथा कर रहे हैं। अतः वे भी यथार्थ मार्गप्रदाता हैं।

जघन्य उपदेशक आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं, जिनने रुचि पूर्वक मार्ग को समझकर, उसकी साधना के द्वारा मार्ग के फल रूप आत्मा की शान्ति का अनुभव कर लिया है। ऐसे ज्ञानी पुरुष द्वारा भी बताया गया मार्ग सत्यार्थ होता है, क्योंकि उन्होंने भी स्वयं उसकी सत्यता को अनुभव द्वारा प्रमाणित कर लिया है।

दिव्यध्वनि के द्वारा जो यथार्थ मार्ग प्रकाशित हुआ वही आचार्यों एवं परम्परा से ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा लिपिबद्ध होकर द्रव्यश्रुत (शास्त्र) के रूप में हमें उपलब्ध है। उसको भी व्यवहार से परम्परा देशना का कारण कहा गया है। लेकिन वह द्रव्यश्रुत उस ही आत्मार्थी जीव को

परम्परा कारण बनेगा, जिसने एक बार ज्ञानी गुरु के द्वारा उसके अध्ययन करने के लिए दृष्टि प्राप्त कर ली हो अर्थात् द्रव्यश्रुत के अध्ययन द्वारा क्या प्राप्त करना-क्या समझना वह दृष्टि प्राप्त कर ली हो। कारण द्रव्य श्रुत में यथार्थ उपदेश गुथित होने पर भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के द्वारा विवेचन किया गया होता है। शास्त्र स्वयं तो वह दृष्टिकोण (अपेक्षा) स्पष्ट कर नहीं सकते। अत: जिसने ज्ञानी गुरु से उन अपेक्षाओं को समझने की दृष्टि प्राप्त कर ली हो, ऐसे आत्मार्थी जीव को, वह देशना, जिनवाणी के माध्यम से पुन: जाग्रत हो जाती है, इस कारण जिनवाणी (शास्त्र) के अध्ययन को भी कारण कह दिया जाता है। लेकिन अज्ञानी के द्वारा प्राप्त उपदेश के द्वारा आत्मोपलब्धि नहीं होती, क्योंकि उसने उस मार्ग का अनुभव नहीं किया है। जैसे मिश्री का स्वाद नहीं चखने वाले पुरुष ने, उसके स्वरूप को, निष्णात व्यक्ति द्वारा गहराई से समझा हो और दूसरे पुरुष ने प्रत्यक्ष स्वाद लिया हो; आप विचार करें कि उनमें से मिश्री संबंधी वर्णन किसका यथार्थ होगा? स्वाद चखने वाले के वर्णन में ही यथार्थता हो सकती है।

इसीप्रकार ज्ञानी की देशना में ही यथार्थता आ सकती है, इतनी बात अवश्य है कि अगर एक बार ज्ञानी गुरु के द्वारा रुचि पूर्वक यथार्थ देशना प्राप्त कर ली हो और वह विस्मरण हो जावे तो कालान्तर में अज्ञानी के माध्यम से भी अथवा जिनवाणी (द्रव्यश्रुत) के अध्ययन से वह सत्यार्थ देशना स्मृति में प्रगट हो सकती है। अत: इस अपेक्षा उस उपदेश को भी निमित्त कह दिया जाता है। नियमसार ग्रन्थ की गाथा ५३ में कहा भी है कि —

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणदां दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ :— सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है, जिनसूत्र के जानने वाले पुरुषों को सम्यक्त्व के अंतरंग हेतु (निमित्त) कहे हैं क्योंकि उनको

दर्शनमोह के क्षयादिक हैं ।

ज्ञानी पुरुष के अभाव में यथार्थ निर्णय कैसे हो ?

प्रश्न :— वर्तमान काल में ज्ञानी पुरुष का समागम तो दुर्लभ है अतः मोक्षमार्ग का यथार्थ निर्णय कैसे हो ?

समाधान :— उपरोक्त कथन आत्मार्थी को पुरुषार्थहीन बनाने के लिये नहीं था, बल्कि यथार्थ मार्ग की प्राप्ति के लिये यथार्थ स्थान ढूंढ़ने में सावधानी रखने के लिये है। जिनवाणी के हर एक कथन का अभिप्राय तो, पराधीनता के अभावात्मक स्वाधीनता पूर्वक पुरुषार्थ प्रेरक होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२ में कहा भी है —

"उपदेश तो ऊपर चढ़ने को दिया जाता है, तू उल्टा नीचा गिरेगा तो हम क्या करेंगे—आदि।" ज्ञानी पुरुष ने अनेक प्रकार से परीक्षा करके जो मार्ग प्राप्त किया है, हमको श्रम के बिना ही वह मार्ग उसके द्वारा सहज प्राप्त हो जाता है, ऐसा महान् लाभ होता है। लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञानी के अभाव में, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा रचित द्रव्यश्रुत, (जिनवाणी, आगम) वर्तमान में हमको उपलब्ध है। वह द्रव्यश्रुत भी मार्ग प्राप्त कराने का हमको परम कल्याणकारी, परोक्ष रूप से कारण है। प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा २२५ में तो इस विषय की समीक्षा करते हुये आगम को नित्यबोधक कहकर उसके उपकार की महिमा एवं आगम की उपादेयता बताई गई है। उसकी टीका का अंश निम्नप्रकार है —

(२) "जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक, गुरु द्वारा कहे जाने वाले आत्म-तत्त्वद्योतक, सिद्ध उपदेशरूप वचन पुद्‌गल; तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है, ऐसे नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पुद्‌गल;"

अतः आत्मार्थी का कर्तव्य है कि ज्ञानी के समागम के अभाव में उतनी ही रुचि तथा महिमापूर्वक जिनवाणी के माध्यम से, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने का पुरुषार्थ करें। प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा ८६ में

आगम-अभ्यास को मोह (मिथ्यात्व) के क्षय का कारण कहा है। गाथार्थ इसप्रकार है —

अर्थ :— जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोहोपचय - क्षय हो जाता है इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

गाथा २३२ में भी कहा है कि —

अर्थ :— श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिए आगम में व्यापार मुख्य है।

तथा गाथा २३४ की टीका में साधु परमेष्ठी को भी आगमचक्षु कहते हुए कहा है कि —

"अब उस (सर्वतः चक्षुपने) की सिद्धि के लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात नहीं होवे ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगमचक्षु से स्व पर का विभाग करके, महामोह को जिसने भेद डाला है, ऐसे वर्तते हुए परमात्मा को पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं।"

इसप्रकार आगम-अभ्यास की अपार महिमा है। आगम के अभ्यास द्वारा भी ज्ञानी के अभाव में यथार्थ निर्णय प्राप्त होता है। ऐसा विश्वास जाग्रत करना चाहिये।

जिसप्रकार भी संभव हो यथार्थ देशना प्राप्त कर, अध्ययन आदि के द्वारा उसको ग्रहण करना चाहिए अर्थात् बुद्धिगम्य कर यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

यथार्थ देशना प्राप्त करके भी निर्णय की यथार्थता कैसे समझी जावे ?

आत्मा की अन्तर्दशा तत्त्व निर्णय एवं भेद-विज्ञान उक्त प्रश्न के उत्तर स्वरूप निर्णय की यथार्थता अथवा अयथार्थता का मापदण्ड आचार्य

श्री अमृतचंद्रदेव ने पंचास्तिकाय ग्रंथ की गाथा १७२ की टीका में निम्नप्रकार दिया है —

"अलं अति विस्तरेण, स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति द्विविध किल तात्पर्यम्-सूत्रतात्पर्य शास्त्रतात्पर्य चेति। तत्र सूत्रतात्पर्य प्रति सूत्रमेव प्रतिपादितम् ।"

अर्थ :— "विस्तार से बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है। तात्पर्य द्विविध होता है - सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य, उसमें सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र (गाथा) में प्रतिपादित किया गया है।"

उपर्युक्त मापदण्ड के आधार पर आत्मार्थी जीव को अपनी ही बुद्धिरूपी कसौटी से अपने निर्णय को हमेशा परखते रहना चाहिए कि मेरा निर्णय वीतरागता का उत्पादक है अथवा नहीं। इसका प्रमाण है — भगवान अरहन्त की आत्मा। भगवान अरहन्त की आत्मा भी पूर्वदशा में राग-द्वेष आदि के सद्भाव और आकुलता के वेदन के कारण निरन्तर दुःखी था। उनकी आत्मा ने भी यथार्थ देशना के द्वारा अपने अकर्ता ज्ञायकस्वभावी आत्मा का यथार्थ निर्णय कर, उपदेश के अनुसार अपने आत्मा में परिणमन कर लिया, फलस्वरूप ज्ञेयों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा जाग्रत कर, उपयोग को अपने आप में लीन कर दिया; और रागादिक का अभाव कर, परम वीतरागता प्राप्त की। उसी के फलस्वरूप ज्ञान भी पूर्ण होगया अतः वे सर्वज्ञ हो गये एवं अतीन्द्रिय सुख को निरन्तर भोग रहे हैं। उपरोक्त प्रमाण के आधार से विश्वास होता है कि मार्ग तो वही सच्चा है कि जिसके अनुसरण करने से रागादिक का अभाव होकर, वीतरागता की प्राप्ति हो।

आकुलता रूपी दुःख का अभाव करके, निराकुलता रूपी सुख प्राप्त करना ही हमारा प्रयोजन है। आकुलता के उत्पादक रागादि हैं। अतः रागादि के अभाव करने का उपाय जो उपदेश बतावे, वह उपदेश ही एक

मात्र सत्यार्थ हो सकता है। यथार्थ उपदेश मिलने पर, हमारे निर्णय में ये प्रमाणित हो कि इस उपदेश को समझकर ग्रहण करने से रागादि की हानि और वीतरागता की उत्पत्ति होगी तो समझ लेना चाहिए कि हमारा निर्णय यथार्थ है तथा निःशंक होकर उग्र रुचिपूर्वक उसकी साधना करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

संक्षेप में कहो तो समस्त द्वादशांग वाणी का तात्पर्य एक मात्र वीतरागता है । समस्त द्वादशांग वाणी एक मात्र वीतरागता का ही प्रतिपादन करती है। अतः किसी भी अनुयोग के किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन किया जावे, अध्ययनकर्ता को उससे एकमात्र वीतरागता का ही पोषण होना चाहिए। यही एकमात्र अपने अध्ययन एवं निर्णय को परखने के लिए उत्कृष्ट कसौटी है। आत्मार्थी को उस कसौटी को सदैव बुद्धि में जाग्रत रखकर, आगम का अध्ययन करना चाहिए।

निर्णय करना आवश्यक क्यों?

प्रश्न :— अध्ययन के पश्चात् भी निर्णय करने पर इतना बल क्यों दिया गया है?

समाधान :— लौकिक में भी यह स्पष्ट है कि किसी भी अध्ययनरत विद्यार्थी ने अध्ययन के द्वारा जो विधि सीखी है, उसके संबंध में "यह विधि ही यथार्थ है, इस विधि का परीक्षा के समय उपयोग करके ही मैं उत्तीर्णता प्राप्त करूँगा" ऐसे निर्णय के बिना वह उस विधि का निःशंकतापूर्वक उपयोग नहीं करेगा तो उत्तीर्णता भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त करके भी आत्मार्थी अगर निःशंक निर्णय नहीं करेगा कि "यही मार्ग सत्यार्थ है" तब तक पूर्ण पुरुषार्थ के साथ निःशंकतापूर्वक उसका अनुसरण नहीं कर सकेगा। फलस्वरूप वीतरागता का उत्पादन भी नहीं कर सकेगा। अतः दृढ़तम निर्णय होना आवश्यक है। विविध ग्रन्थों में विविध आचार्यों ने भी निम्नप्रकार निर्णय को अत्यन्त आवश्यक बताया है।

समयसार गाथा १४४ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि —

अर्थ :— "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके.....आदि-आदि।"

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार की गाथा ८६ में कहा है कि —

अर्थ :— "जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोहसमूह क्षय हो जाता है। इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है कि —

"जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है, ऐसे जीव को जो सर्वज्ञोपज्ञ होने से सर्वप्रकार से अबाधित है, ऐसे शब्दप्रमाण को (द्रव्यश्रुत प्रमाण को) प्राप्त करके तत्त्वतः समस्त वस्तु मात्र को जानने पर अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार करने वाला मोहोपचय अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है।"

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि सर्वप्रथम उपदिष्ट तत्त्व का धारण एवं विचार होकर दृढ़तम निर्णय होना चाहिए, उसी से सम्यक् श्रद्धा का जन्म होता है। जिनवाणी में उपदेश सुनकर निर्णय करने के ५ प्रकार बताये हैं; वे इसप्रकार — उपदेश का श्रवण, ग्रहण, धारण, निर्धारण तथा परिणमन। इस पद्धति के द्वारा यथार्थ निर्णय होता है।

तत्त्वनिर्णय करने की विधि

अध्ययन एवं चिन्तन-मनन के द्वारा निर्णय करना आवश्यक होते हुए भी निर्णय करने की विधि भी जानना आवश्यक है।

निर्णय करना प्रारम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम उद्देश्य निश्चित करना चाहिये। मुझे धर्म क्यों करना है तथा समझने का उद्देश्य क्या है अर्थात्

क्या बनने के लिये समझना है? आत्मार्थी का उद्देश्य तो भगवान अर्थात् सिद्ध बनने का होना चाहिये। ऐसे निर्णय के पश्चात् सिद्ध बनने का मार्ग समझना पड़ेगा। आत्मार्थी ने अगर अंतरंग की रुचिपूर्वक ऐसा निर्णय किया है तो वह उस मार्ग के खोजने में मात्र सिद्ध बनने के मार्ग को रुचिपूर्वक समझने के लिये सत्समागम खोजेगा, ज्ञानीजनों से चर्चा करेगा तथा मात्र वह मार्ग खोजने के लिये जिनवाणी का अध्ययन भी करेगा। जिनवाणी में तो अनेक प्रकार के कथन आते हैं, उनमें से अपने प्रयोजन सिद्ध करने वाले कथनों द्वारा मार्ग खोजने का प्रयास करेगा। इस सबमें सिद्ध बनने की रुचि ही मुख्य है, उसी से कार्य सफल होगा।

उपरोक्त दृष्टिकोण से अंतरंग रुचिपूर्वक समझने का पुरुषार्थ करने वाले आत्मार्थी जीव को निर्णय करने की विधि (पद्धति) भी आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ २५७ पर निम्नप्रकार बताई है —

"वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादि तत्त्वों के तथा निज-पर की और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के ...इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है, तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार (निर्णय) करने का उद्यम किया।"

"वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना - यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं - जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये, सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है ऐसा

न माने तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों, उनसे पूछे, और वे उत्तर दें, उसका विचार करे। इसीप्रकार जब तक निर्धार न हो तब तक प्रश्न-उत्तर करे, अथवा समानबुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे, तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। इसीप्रकार जब तक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर भावभासित न हो तब तक इसीप्रकार उद्यम किया करे।"

"ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसीप्रकार भासित होता है — ऐसा निर्णय होता है।"

आगे महत्वपूर्ण बात और लिखते हैं कि —

"जिनवचन और अपनी परीक्षा में समानता हो, तब तो जाने कि परीक्षा सत्य हुई। जब तक ऐसा न हो तब तक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले तब तक अपनी चूक को ढूँढ़ता है, उसी प्रकार यह अपनी परीक्षा में विचार किया करे।"

जो प्रमादी जीव तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ तो नहीं करते और कर्म के उदय, क्रमबद्ध एवं काललब्धि आदि का बहाना करके प्रमाद में काल गंवाते हैं उनको पण्डितजी ने प्रताड़ित भी किया है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के नौवें अधिकार में पेज ३११ पर निम्न शब्दों में कहा है कि —

"तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगावे, वह तो इसी का दोष है, तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है। इसलिए मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना।"

"और तत्त्वनिर्णय करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अंपना दोष कर्मादिक को लगाता है; सो जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय कषाय रूप ही रहना है, इसलिए झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिए बनावे? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया कहता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा, इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे यह असंभव है।"

पृष्ठ ३१२ पर भी कहा है —

"तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने-आप दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आवेगी, सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है।"

इसप्रकार पण्डितप्रवर टोडरमलजी साहब ने तत्त्वनिर्णय करने की विधि (पद्धति) बहुत भलीप्रकार से स्पष्ट करके समझाई है फिर भी जिज्ञासु पात्र जीव को विशेष स्पष्टीकरण के लिए सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि का प्रकरण पूरा अध्ययन करना चाहिए।

अध्ययन पांच प्रकार से

मोक्षमार्ग प्रकाशक के अतिरिक्त बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा २ की टीका में आचार्य श्री ब्रह्मदेव सूरि ने शास्त्रों के अर्थ तथा उपरोक्त विषय को समझने के लिये निम्नप्रकार पद्धति अपनाने का भी निर्देश दिया है—

"एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथा सम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः।"

अर्थ :— "इसप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ- यथासंभव व्याख्यान काल में सर्वत्र जानना चाहिए।"

उपर्युक्त आधार से यह आवश्यक है कि अध्ययनकर्ता को उपरोक्त पाँचों प्रकार से हर विषय को समझना चाहिये, आचार्यश्री ने "सर्वत्र" शब्द लगाकर इस पद्धति की विशालता बहुत विस्तृत कर दी है।

आचार्य महाराज का संकेत है कि शास्त्र के अध्ययन के समय उपरोक्त पद्धति अपनाने से हर एक गाथा, श्लोक अथवा विषय का यथार्थ अभिप्राय समझ में आ सकेगा। यथा —

शब्दार्थ :— जब तक उस भाषा का आवश्यक ज्ञान नहीं हो तो उन शब्दों का अर्थ ही नहीं समझ सकता और शब्दार्थ समझे बिना भाव समझ में आ ही नहीं सकता।

नयार्थ :— प्रस्तुत विषय किस नय की मुख्यता से किया गया है - यह समझना आवश्यक है। जैसे द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से किये गये कथन को पर्यायार्थिकनय की प्रधानतावाला मान लेने से अथवा पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से किये गये कथन को द्रव्यार्थिकनय की प्रधानतावाला मान लेने से, तो अनर्थ हो जावेगा। उल्टा (विपरीत) हो जावेगा, क्योंकि दोनों नयों के विषय परस्पर विरुद्ध होते हैं, इसलिये कथन का यथार्थ अभिप्राय समझने के लिये आवश्यक नयज्ञान एवं उसके प्रयोग की पद्धति को जानना भी अत्यन्त आवश्यक है।

मतार्थ :— मतार्थ से अभिप्राय है कि प्रस्तुत विषय किसप्रकार की मान्यता वाले की भूल निकालने की दृष्टि से किया गया है। यह पहिचानना उक्त कथन का मतार्थ है। हर एक कथन किसी मिथ्या-मान्यता का अभाव करके सत्यार्थ दिशा में लाने की दृष्टि से ही किया जाता है। जैसे जिस की पराधीन, संयोगाधीन दृष्टि हो, वह हरएक कार्य का सम्पादन संयोग से हुआ मानता है, तो उसकी उस मान्यता को मिटाकर स्वभावदृष्टि, स्वाधीनदृष्टि कराने के लिए सभी युक्ति, हेतु दृष्टान्त, आगम उस भूल को

निकालने के लिए प्रस्तुत किये जावेंगे। जैसे विकार तो तेरी पर्याय में हुआ है, उसका उत्पादक भी तू ही तो है, इसलिए अभाव भी तू ही कर सकेगा आदि-आदि उपदेश से स्वाधीनदृष्टि उत्पन्न करा कर, विकार के अभाव करने की ओर अग्रसर कराया जाता है। जो व्यक्ति राग को कर्मकृत मानकर, अभाव करना अशक्य मानकर, अकर्मण्य (पुरुषार्थहीन) बन रहा हो, उसको ऐसा समझाना पड़ेगा कि उनका करने वाला तू स्वयं ही तो है, अन्य नहीं, रागादि तू करता है तो विकार उत्पन्न होता है, उससे कर्मबंधन होता है, तेरा स्वभाव रागादि करने का नहीं है, ज्ञान करने का है, आदि-आदि के द्वारा स्वभाव का ज्ञान कराकर, विकार तो परलक्ष्य से ही उत्पन्न होता है, तथा विकार तेरा स्वभाव नहीं है, तू स्वलक्ष्य करके परलक्ष्य छोड़ दे आदि द्वारा स्वाधीनता पूर्वक परलक्ष्य छोड़ने का उपदेश दिया जाता है। अतः ऐसे जीवों को उपरोक्त प्रकारों से समझाना पड़ता है, जिससे जीव उसप्रकार की मिथ्या मान्यता छोड़कर सत्यार्थ मार्ग ग्रहण कर ले। निमित्ताधीन दृष्टिवाले को, वस्तुओं के स्वतंत्र परिणमन तथा एक वस्तु में अन्य दूसरे द्रव्य में अभाव हैआदि युक्तियों के द्वारा तथा द्रव्य अपनी ही पर्याय को करता है; आदि-आदि कथन द्वारा पराधीनदृष्टि छुडाई जाती है, जो ऐसे कथनों को सुनकर, स्वच्छन्दता पोषण करने लगे तो उसको असत्समागम छुड़ाने के लिए विपरीत निमित्तों से बचने का उपदेश दिया जाता है, आदि-आदि। इसप्रकार हर एक विषय के अध्ययन के समय कथन का मतार्थ जानना अत्यन्त आवश्यक है, कि वह कथन किसप्रकार की विपरीत मान्यता को मिटाने के लिये किया गया है। अन्यथा उस विषय का यथार्थ अभिप्राय समझ में नहीं आ सकेगा।

आगमार्थ :— उपर्युक्त शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ समझकर जो भी भाव समझ में आया हो, वह आगम के अनुसार है अथवा नहीं। क्योंकि मात्र युक्ति, हेतु आदि के माध्यम से किया गया कोई भी निर्णय जब तक आगमानुसार नहीं हो, वह यथार्थता को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः

आत्मार्थी को आवश्यक विषय का आगम का अभ्यास भी होना चाहिए, क्योंकि निर्णय की यथार्थता की पहिचान कराने वाली कसौटी तो वीतरागता ही है; वीतरागता पोषक एवं सर्वज्ञोपज्ञ होने से श्रद्धा करने योग्य तो एकमात्र आगम ही है। अतः अपने निर्णय के प्रति निःशंकता, प्राप्त करने के लिए निर्णय की आगमार्थ द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिए।

भावार्थ :— उक्त चारों कसौटियों से पार होने के बाद में जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ हो, वही उस कथन का भावार्थ अर्थात् यथार्थभाव है, ऐसा निःशंक होकर समझना चाहिए।

इसप्रकार उपर्युक्त बताई गई पद्धतियों के द्वारा, आत्मकल्याण के लिए उपदेश के अभिप्राय को समझ कर निर्णय में निःशंकता प्राप्त करनी चाहिए।

निर्णय करने वाले की अन्तर्भूमिका

प्रश्न :— उपर्युक्त निर्णय करने वाले जीव की अन्तर्भूमिका कैसी होती है?

समाधान :— जिसके अन्तर में ये विचार आया कि "मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है।" ऐसे विचारवाले जीव की रुचिपूर्वक निर्णय करने की उग्रता होती है, वह जीव अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहता। ऐसा जीव ही रुचिपूर्वक निर्णय करके रुचि की योग्यता के बल से प्रायोग्य एवं करण लब्धि पार करता हुआ निश्चित रूप से सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा। पद्मनन्दि पंचविंशतिका में कहा भी है —

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भावि निर्वाणभाजनं ॥

अर्थ :— जिसने आत्मा की वार्ता भी प्रीतिचित्त पूर्वक सुनी है, वह निश्चितरूप से भव्य है एवं भाविनिर्वाण का पात्र है।

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की गाथा ८-९-१० में भी शिष्य प्रभाकर भट्ट ने आचार्य योगीन्द्रदेव से इसी आशय की प्रार्थना की है कि "भगवन्! मैं तो संसार भ्रमण करते-करते त्रस्त हो चुका हूँ, मुझे सब कुछ मिला, लेकिन एकमात्र शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई, अतः मुझे मेरे शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति कैसे हो? वह उपाय बताइये, मुझे अब एक भव भी धारण नहीं करना है," आदि-आदि।

इसप्रकार की भावनावाला जीव जब निर्णय करने के सन्मुख होता है तो उस समय उसकी अन्तर्भूमिका अत्यन्त उग्र होती है, ऐसी भावनावाले जीव की रुचि अब संसार, शरीर, भोगों से हटकर एकमात्र अपने आत्महित अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने के प्रति तीव्रता के साथ अग्रसर होती है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी कहा है —

"काम एक आत्मार्थनो, बीजो नहिं मनरोग" आदि-आदि। तथा

"कषायनी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणीदया त्यां आत्मार्थ निवास॥"

"त्याग विराग न चित्त मा, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निज भान॥"

उस जीव को उपर्युक्त भावना जाग्रत होने पर बाहर का सब कुछ जैसे का तैसा बना रहते हुए भी अन्तर की रुचि का वेग पलट जाता है। अब तक जिनके रक्षण-पोषण एवं वृद्धि आदि के प्रति उत्साह वर्तता था, वह ढ़ीला पड़ जाता है। अपने आत्मा के कल्याण का उपाय जो निज आत्मतत्त्व का अनुसंधान आदि के प्रति उत्साह वर्तने लगता है तथा अपनी वृत्ति को लगा देता है। अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापन करते हुए जिनमें अब तक अपनापन माने हुए था उनमें परपना किस प्रकार आवे, ऐसा निर्णय करने के लिये तीव्रतम रुचि के साथ पूर्ण पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्नशील हो जाता है।

निर्णय का विषय क्या हो ?

उपर्युक्त भावनावाले जीव की रुचि एवं पात्रता उग्र हो गई होती

है, वह जीव इन्द्रिय विषयों की ओर भटकती हुई अपनी बुद्धि को सब ओर से समेट कर, विनयपूर्वक दत्तचित्त होकर एकाग्रता एवं आतुरता के साथ तत्त्वोपदेश को ग्रहण करता है, धारण करता है एवं उस पर गंभीरता से विचार करने में प्रयत्नशील होता है।

उपर्युक्त रुचि एवं भावना सहित निर्णय करने के सन्मुख हुआ जीव, सर्वप्रथम उपदेश को सुनकर उसमें प्रयोजन की सिद्धि के लिये उपयोगी विषयों को ग्रहण करता है एवं तत्काल निर्णय के लिये उपयोगी नहीं होने वाले कथनों को गौण कर देता है। जैसे चारों अनुयोगों में कथन तो, अनेक अपेक्षाओं को लेकर विस्तार से आते हैं। उनके संबंध में वह विचारता है कि मेरी आयु तो अल्प है, बुद्धि भी सीमित है और उपदेश के प्रकार तो बहुत हैं, सबका धारण करना तो संभव नहीं है। अतः मुझे इन सब में से मेरे प्रयोजन की सिद्धि के लिये विशेष उपयोगी हों उनको पहले धारण करना चाहिए। पद्मनन्दि पंचविंशतिका के श्लोक १/१२७ में भी कहा है कि —

"वर्तमान काल में मनुष्यों की आयु अल्प, बुद्धि अतिशय मंद, इस कारण समस्त श्रुतपाठ की शक्ति रही नहीं, अतः उनको उतने ही श्रुत का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये, जो मोक्ष का बीजभूत होकर आत्महित करने वाला हो।"

श्री कविवर भूधरदासजी ने भी कहा है कि —

"जीवन अल्प आयु बुद्धि बलहीन तामें
आगम अगाधिसिंधु कैसे ताहि डाकि हैं?"

आत्मार्थी की उपर्युक्त समस्या को सुलझाने के लिए पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में निम्नप्रकार स्पष्टीकरण किया है।

पृष्ठ ६ पर आत्मार्थी जीव का प्रयोजन स्पष्ट किया है कि —

"जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है, और जिसके द्वारा उस प्रयोजन की सिद्धि हो, वही

अपना इष्ट है। सो हमारे तो इस अवसर में वीतराग-विज्ञान का होना वही प्रयोजन है।"

इसी तथ्य की पुष्टि आचार्य अमृतचन्द्रदेव के पंचास्तिकायसंग्रह की गाथा १७२ की टीका से होती है। यथा —

"विस्तार से बस हो! जयवंत वर्तो वीतरागता, जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है।"

इसप्रकार आत्मार्थी जीव एकमात्र वीतरागता की सिद्धि को ही अपना प्रयोजन मानकर समस्त शास्त्रों के सुनने में - विचारने में इस ही एक उद्देश्य को मुख्य रखकर अध्ययन करता है एवं निर्णय करता है।

जिनवाणी में बताया है कि उपदेश को किसप्रकार ग्रहण करना चाहिये, कहा है कि —

"श्रवण, ग्रहण, धारण, निर्धारण (निर्णय) परिणमन।" इसप्रकार क्रम से उपदेश ग्रहण करना चाहिये।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५७ पर समस्त द्वादशांग में भी हमारा प्रयोजनभूत विषय क्या है? इसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार किया है कि—

"वहाँ अपने प्रयोजनभूत (१) मोक्षमार्ग के, (२) देव-गुरु-धर्मादिक के (३) जीवादि तत्त्वों के तथा (४) निज-पर के और (५) अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया।" आदि-आदि

इसप्रकार पंडित टोडरमलजी साहब ने हमारी महत्वपूर्ण गंभीर समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत किया है कि सारे द्वादशांग का पठन कर, श्रवण कर, अध्ययन कर, उन सबमें से अपने प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् सुखी होने का मार्ग प्राप्त करने के लिए मात्र उपर्युक्त विषय ही समझने योग्य तथा निर्णय करने योग्य विषय हैं। उपर्युक्त विषयों को ही, चाहे अनेक ग्रन्थ पढ़कर अथवा संक्षेप में विचार करके निर्णय करो, निर्णय करने योग्य तो मात्र उपर्युक्त विषय ही हैं।

इस ही को और भी स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर पृष्ठ २५८ में कहते हैं —

प्रश्न— "उपदेश तो अनेक प्रकार के हैं, किस-किस की परीक्षा करें?"

समाधान — "उपदेश में (१) कोई उपादेय, (२) कोई हेय तथा (३) कोई ज्ञेय तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। (१) उपादेय (२) हेय तत्त्वों की तो परीक्षा कर लेना, क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय मान लें तो बुरा होगा, हेय को उपादेय मान लें तो बुरा होगा।"

"इसलिये जैनशास्त्रों में जहाँ तत्त्वादिक का निरूपण किया, वहाँ तो हेतु, युक्ति आदि जिस प्रकार उसे अनुमानादि से प्रतीत आये उसी प्रकार कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादि के कथन आज्ञानुसार किये हैं। इसलिये हेयोपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है।"

"वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वों को तथा स्वपर को पहिचानना तथा त्यगने योग्य मिथ्यात्वरागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना तथा निमित्त-नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना। इत्यादि मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है, उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना। सामान्य रूप से किसी हेतु युक्ति द्वा इनको जानना व प्रमाण नय द्वारा जानना व निर्देश-स्वामित्वादि से और सत्संख्यादि से इनको विशेष जानना। जैसी बुद्धि हो — जैसा निमित्त बने, तैप्रकार इनको सामान्य-विशेष रूप से पहिचानना।"

उपर्युक्त विषय पर गंभीरता से विचार करें तो सारा द्वादशांग अर्थात् सुगमता समस्त जिनवाणी बांटी जा सकती है। समस्त जिनवाणी में, ऊपर गये विषयों में से आत्मा को निर्णय करने के लिए तो स्व-पर को पहिचा के साथ-साथ हेय-उपादेय विषय ही प्रयोजनभूत

हैं, बाकी सभी मात्र ज्ञेय तत्त्व में ही गर्भित हो जाते हैं। इसलिये उपर्युक्त कथन के अनुसार हमको तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये, समझने के लिये, निर्णय करने के लिए तो समस्त द्वादशांग में से मात्र स्व अस्तित्व के साथ-साथ, हेय उपादेय तत्त्व ही प्रयोजनभूत रह जाते हैं।

ज्ञेयतत्त्वों के संबंध में भी पण्डितजी पृष्ठ २५९ में विशेष स्पष्ट करते हैं —

"तथा जो ज्ञेयतत्त्व हैं, उनकी परीक्षा हो सके तो परीक्षा करें, नहीं हो सके तो यह अनुमान करें कि जो हेय उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे, तो ज्ञेयतत्त्वों को अन्यथा किसलिये कहेंगे? इसलिये ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा भी अथवा आज्ञा से जाने, यदि उनका यथार्थ भाव भासित न हो तो भी दोष नहीं है।"

आगे पृष्ठ २६० पर और भी स्पष्ट करते हैं कि —

जैसी बुद्धि हो - जैसा निमित्त बने, उसीप्रकार इनको सामान्य-विशेष रूप से पहिचानना तथा इस जानने में उपकारी गुणस्थान मार्गणादिक व पुराणादिक व व्रतादिक - क्रियादिक को भी जानना योग्य है। यहाँ जिनकी परीक्षा हो सके, उनकी परीक्षा करना, न हो सके उनकी आज्ञानुसार जानकारी करना।"

उपर्युक्त कथन पर गंभीरता से विचार किया जावे तो टोडरमलजी साहब ने गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि करणानुयोग को एवं पुराणादिक प्रथमानुयोग को तथा व्रतादिक-क्रियादि चरणानुयोग को अर्थात् उपर्युक्त तीनों अनुयोगों के संबंध में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व निर्णय करने के लिये "भी" शब्द का प्रयोग किया है। जिसका तात्पर्य निकलता है कि ये तीनों अनुयोगों के कथन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में मुख्य सहायक नहीं होंगे, मुख्य उपयोगी तो इन तीनों अनुयोगों के अतिरिक्त बचा हुआ स्व के अस्तित्व के साथ-साथ हेय-उपादेय का ज्ञान करानेवाला एकमात्र द्रव्यानुयोग ही रहता है। सारांश तीनों अनुयोग गौण रूप से सहयोगी

बताये गये हैं। द्रव्यानुयोग में भी सारभूत विषय तो मात्र वही हैं जो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५८ पर बताये गये हैं। अत: आत्मार्थी जीव को आगम के अध्ययन अर्थात् तत्त्वनिर्णय के लिए भी चारों अनुयोगों में भटकती हुई अपनी रुचि एवं बुद्धि को, सब ओर से समेटकर, द्रव्यानुयोग में भी मात्र उपर्युक्त प्रयोजनभूत विषयों के निर्णय करने में ही एकाग्र होकर लगा देना चाहिए।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २३५ पर तो और भी विशेष जोर देकर टोडरमलजी साहब ने कहा है कि —

"यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों का ही अभ्यास करें, ऐसा नहीं करना कि व्याकरण आदि का अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जावे और तत्त्वज्ञान (प्रयोजनभूत तत्त्व) की प्राप्ति न बने।"

उपर्युक्त सारे कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि आत्मार्थी जीव को, अन्य कार्यों में भटकती बुद्धि को समेटकर, अपनी आत्मा को समझने के लिये आगमाभ्यास में लगा देना चाहिये तथा आगमाभ्यास में भी अन्य विषयों को गौण कर, प्रयोजनभूत विषय के समझने में ही बुद्धि को पूर्णरूप से समर्पित कर देना चाहिये।

अत: यहां सहज ही जिज्ञासा जाग्रत होती है कि चारों अनुयोगों की कथन-पद्धति क्या है? उसका विवरण इसप्रकार है —

चारों अनुयोग

चारों अनुयोगों का प्रयोजन

समस्त जिनशासन चार अनुयोगों में वर्णित (गुंथित) है - (१) प्रथमानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) करणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। हर एक अनुयोग की कथन पद्धति एवं अभिप्राय क्या है? इसका वर्णन पण्डित टोडरमलजी साहब ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के आठवें अध्याय में विस्तार से किया है। शास्त्र अभ्यासी को उस अध्याय का अवश्यमेव अध्ययन करना चाहिये। इसी अध्याय के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये

जा रहे हैं। यह प्रकरण पृष्ठ २६८ से प्रारम्भ होकर पृष्ठ ३०४ पर समाप्त होता है।

प्रयोजन

(१) पृष्ठ २६८ "प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है, जो जीव तुच्छ बुद्धि हों वे भी उससे धर्म सन्मुख होते हैं।"

(२) पृष्ठ २६९ "करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।"

"करण अर्थात् गणित कार्य के कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें "अनुयोग" अधिकार हो वह करणानुयोग है।"

(३) पृष्ठ २७० "चरणानुयोग में नानाप्रकार धर्म के साधन निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाते हैं।"

पृष्ठ २६९ "जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतराग भाव के अनुसार भासित होते हैं, एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है, क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है, ऐसा जानकर श्रावक-मुनि धर्म को विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतराग भाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं, सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं।"

(४) पृष्ठ २७१ "द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको-परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु दृष्टान्त-युक्ति द्वारा व प्रमाण नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है, जिससे उनको प्रतीति हो जावे। उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है।"

पृष्ठ २८७ में भी कहा है कि "द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है, और न्यायशास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट समझ में आता है कि अनादि अज्ञान दूर करने एवं यथार्थ निर्णय करने के लिये (प्रतीति करने के लिये) तो सर्वप्रथम द्रव्यानुयोग का अभ्यास ही कार्यकारी है।

द्रव्यानुयोग के अभ्यास द्वारा परिणति में जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है, उसी के अनुसार अंतरंग व बाह्य आचरण भी कैसा होना चाहिये? तथा शुद्धि की बृद्धि की तारतम्यता कैसी होती है, इनकी जानकारी एवं यथायोग्य आचरण के लिये चरणानुयोग का अभ्यास भी आवश्यक है। अन्य दोनों अनुयोगों में से प्रथमानुयोग, अपने उपयोग को अशुभ में जाने से रोकने के लिये तथा उपयोग को आत्मा के समीप रखने के लिये तथा श्रद्धान को दृढ़ करने के लिये यथासमय उपयोगी है। करणानुयोग के द्वारा अपनी परिणति की अशुद्धता जानकर एवं उसके कारणों को जानकर, आत्मा में वीतरागता की बृद्धि के लिये अध्ययन कार्यकारी है।

पद्धति

प्रथमानुयोग— मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २७१ "प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएँ हैं, वे तो जैसी हैं वैसी ही निरूपित करते हैं, तथा उनमें प्रसंगोपात्त व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

पृष्ठ २७४ "कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोग कष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कार मन्त्र-स्मरण किया, परन्तु ऐसा करने से तो निःकांक्षित गुण का अभाव होता है, निदान बन्ध नामक आर्तध्यान होता है, पाप ही का

प्रयोजन अन्तरंग में है, इसलिये पाप ही का बन्ध होता है, परन्तु मोहित होकर भी जो बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुणग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिक कार्यों के अर्थ धर्मसाधन करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।"

करणानुयोग — पृष्ठ २७५ "जीव पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सम्बन्धादिक द्वारा अनेक द्रव्य से उत्पन्न गति, जाति आदि भेदों को एक जीव के निरूपित करते हैं। इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनय की प्रधानता सहित जानना, क्योंकि व्यवहार के बिना विशेष नहीं जाना जा सकता। तथा कहीं निश्चय वर्णन भी पाया जाता है। जैसे जीवादिक द्रव्यों का प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं। वह यथासम्भव जान लेना।

पृष्ठ २७५ "तथा करणानुयोग में जो कथन है, वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमानादि गोचर होते हैं तथा जो न हो उन्हें आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना।"

पृष्ठ २७७ "यहाँ कोई करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता, करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बतलाने का मुख्य प्रयोजन है, आचरण कराने की मुख्यता नहीं है।"

"जैसे आप कर्मों के उपशमादि करना चाहे तो कैसे होंगे? आप तो तत्त्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं।"

चरणानुयोग — पृष्ठ २७७ "चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश दिया है, वहाँ धर्म तो, निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसके साधनादिक उपचार से धर्म है। इसलिए व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचार धर्म के भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है।"

पृष्ठ २७८ "वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। एक निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। वहाँ जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखायी देता, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कुछ धर्म सन्मुख होने पर उन्हें व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव, उनको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।"

"वहाँ व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है, उनके उपदेश से जीव पाप क्रियाओं को छोड़कर पुण्य क्रियाओं में प्रवर्तता है।"

पृष्ठ २७९ "तथा निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती हैं। परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है, इसलिये श्री गुरु परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।"

पृष्ठ २७९ "जहाँ निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ यथार्थ श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है, सो भूतार्थ है, व्यवहार स्वरूप है, सो उपचार है ऐसे श्रद्धान सहित व स्वरूप के भेदज्ञान द्वारा पर द्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजन सहित उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं।"

पृष्ठ २८० "तथा चरणानुयोग में तीव्रकषायों का कार्य छुड़ाकर मंदकषाय रूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्वकषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें उतना ही भला होगा, ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना।"

पृष्ठ २८२ "तथा चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोक प्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं, परन्तु केवलज्ञान गोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा नहीं देते। क्योंकि आचरण करने का प्रयोजन है।"

द्रव्यानुयोग — पृष्ठ २८४ "जीवों के जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान जिसप्रकार हो उसप्रकार विशेष, युक्ति, हेतु दृष्टान्तादि का यहाँ निरूपण करते हैं, क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है।"

पृष्ठ २८४ "तथा यहाँ मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के अर्थ जीवादि तत्त्वों का विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं। वहां स्वपर भेदविज्ञानादिक जिसप्रकार हों उसप्रकार जीव-अजीव का निर्णय करते हैं, तथा वीतरागभाव जिसप्रकार हो, उसप्रकार आस्रवादिक का स्वरूप बतलाते हैं, और वहां मुख्यरूप से ज्ञान-वैराग्य के कारण जो आत्मानु- भवनादिक उनकी महिमा गाते हैं।"

पृष्ठ २८४ "तथा द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता हो, वहां व्यवहार धर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न हैं। उनको वहां से उदास करके आत्मानुभवनादिक में लगाने को व्रतशील संयमादिक का हीनपना प्रगट करते हैं। वहां ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है, शुद्धोपयोग में लगाने को शुभोपयोग का निषेध करते हैं।"

पृष्ठ २८५ "इसीप्रकार अन्य व्यवहार का निषेध किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना ऐसा जानना कि जो केवल व्यवहार साधन में ही मग्न हैं, उनको निश्चय रुचि कराने के अर्थ व्यवहार को हीन बताया है।"

पृष्ठ २८५ "तथा उन्हीं शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के विषय भोगादिक को बन्ध का कारण ही नहीं कहा, निर्जरा का कारण कहा, परन्तु यहां भोगों

का उपादेयपना नहीं जान लेना; "यहां इस कथन का इतना ही प्रयोजन है कि देखो सम्यक्त्व की महिमा ! जिसके बल से भोग भी अपने गुण (अनन्त संसार के बंध) को नहीं कर सकते हैं।"

पृष्ठ २८५ - "तथा द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है, इसलिये छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहां कथन करते हैं। इतना विशेष है कि चरणानुयोग में तो बाह्यक्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं।"

पृष्ठ २८६ - "द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहें तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिसप्रकार यथाख्यात चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है, इसीप्रकार अन्य कथन भी जान लेना।"

इसके अतिरिक्त भी चारों अनुयोगों के अभ्यास करने में हर स्थान पर, हर प्रकार के कथन के समझने में कैसी-कैसी सावधानी रखनी चाहिये, आदि-आदि अनेक महत्वपूर्ण जानकारी इस अधिकार में दी गई है, अतः शास्त्र अभ्यासी को पूरा अधिकार भली प्रकार समझना चाहिये।

निष्कर्ष

यहाँ पर तो हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि तत्त्वनिर्णय अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के निर्णय के द्वारा आत्मा को सुखी होने के उपाय का संक्षिप्त व सरल मार्ग क्या है? यह समझना है। उपर्युक्त चारों अनुयोगों की कथन पद्धति के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अपने आत्मस्वरूप की यथार्थ स्थिति का निर्णय करने के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी तो द्रव्यानुयोग के अभ्यास द्वारा सर्वप्रथम स्व-पर का यथार्थ

ज्ञान-श्रद्धान करना ही है। निर्णय करने की पद्धति का विवेचन तो एकमात्र द्रव्यानुयोग में ही है।

पृष्ठ २७१ पर सभी अनुयोगों के कथनों का प्रयोजन बताते हुए द्रव्यानुयोग का प्रयोजन बताया है कि "जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु-दृष्टान्त युक्ति द्वारा व प्रमाण नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है, जिससे उनको प्रतीति हो जाय।" अतः हमको अपने जीवन की अल्पता, आयु, बुद्धि, बल की हीनता आदि का विचार करते हुये, सर्वप्रथम एकमात्र द्रव्यानुयोग में से भी अपने लिए प्रयोजनभूत अत्यन्त सरल व संक्षिप्त मार्ग ढूंढ निकालना चाहिये।

उक्त संन्दर्भ में "तत्त्वनिर्णय का विषय क्या हो?" शीर्षक के अन्तर्गत मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८ में निर्देशित सरलतम व यथार्थ मार्ग समझकर अपने आत्मा की शान्ति के लिये मात्र स्व-पर के विवेक के साथ-साथ हेय, उपादेय एवं ज्ञेय तत्त्वों के स्वरूप को भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

उनके समझने में भी ज्ञेयतत्त्वों में स्वजीव को स्वज्ञेय के रूप में अहंपना स्थापन करते हुये, अपने अतिरिक्त अन्य जीवादि समस्त छह द्रव्यों को परज्ञेय तरीके निर्णय में लेकर परपना स्थापन करने के लिये समझना है, तथा अपने अन्दर ही होने वाले आत्मा के भावों में भी कौन भाव छोड़ने अर्थात् अभाव करने योग्य हैं तथा कौन से भाव रखने योग्य अर्थात् उत्पन्न करने योग्य हैं, ऐसा विवेकपूर्वक यथार्थ निर्णय करके, छोड़ने योग्य भावों में हेयबुद्धि तथा उत्पन्न करने योग्य भावों में उपादेयबुद्धि प्रगट कर यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न करना, यह ही एक मात्र संक्षिप्त, सारभूत एवं सरलतम उपाय है।

ज्ञेय एवं हेय उपादेय तत्त्वों के सम्बन्ध में

ज्ञेयतत्त्व

ज्ञेयतत्त्व का विस्तार बहुत विस्तृत है, जगत में जिनकी सत्ता है। अर्थात् अस्तित्त्व है, वे सब जानने में आने योग्य हैं। वे सब ज्ञेयतत्त्व हैं, जो जानने में नहीं आवे ऐसा कुछ है ही नहीं, अतः ज्ञेयतत्त्व में विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं।

सम्पूर्ण विश्व छह द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अतः छह द्रव्य जो जाति अपेक्षा छह प्रकार के होते हुए भी संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त हैं और वे द्रव्यगुणपर्यायात्मक होने से, उन अनन्तानन्त द्रव्यों में से हर एक द्रव्य के अनन्तगुण और हर एक गुण की, काल की अपेक्षा हर समय नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है, अतः वे सब भी अनन्तानन्त हैं; वे सब ही ज्ञेयतत्त्व में समाविष्ट हैं इतना विस्तार है ज्ञेयतत्त्व का।

प्रश्न :— उपर्युक्त विस्तार को एक द्रव्य के माध्यम से समझाईये ?

उत्तर :— इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जावे तो स्वयं के अनुभव से भी इसकी पुष्टि होती है।

मेरा आत्मा भी जीव द्रव्य है, मेरे ज्ञान में उसका अस्तित्त्व आ ही रहा है, अतः मेरा द्रव्य मेरे ज्ञान का ज्ञेय सिद्ध हो गया। मेरी आत्मा में जानने की क्रिया हो रही है ऐसा ज्ञान गुण भी सिद्ध हो गया। जो वस्तु मेरी नहीं है उसमें भी मेरेपने की मान्यता जिसमें हो रही है ऐसी श्रद्धा नाम के गुण की विपरीतता भी है। उनको रखने के लिये राग रूप भाव तथा दूर करने के लिये द्वेषरूप भाव जिसमें हो रहे हैं ऐसा चारित्र गुण का विपरीत कार्य भी ज्ञात हो रहा है। हमारे वेदन में आता हुआ आकुलता रूपी दुःख भी जिसमें हो रहा है ऐसी सुख गुण की विपरीतता का वेदन भी ज्ञात हो रहा है। इसीप्रकार इस आत्मा में अनन्त प्रकार के गुण, स्वभाव, क्वालिटियाँ एक साथ ही हैं, वे सब भी मेरे ज्ञान के जानने में आते हैं अतः वे सभी ज्ञेय हैं।

उपर्युक्त सभी गुणों का हर समय पलटता हुआ परिणमन भी हमारे अनुभव में आ रहा है, जैसे क्रोध पलटकर क्षमा हो जाती है, मान पलटकर निर्मानता आदि-आदि पलटते हुये भाव, वे सब भी मेरे ज्ञान में ज्ञात होने के कारण, पर्यायें भी ज्ञेय है। इसप्रकार मेरे स्वयं के अनुभव से सिद्ध होता है कि मेरा आत्मा द्रव्य, गुण, पर्यायों सहित मेरे ज्ञान में ज्ञेय हो रहा है। साथ ही ज्ञान की विशेषता है कि उपर्युक्त प्रकार के सब परिणमनों को जानने के साथ-साथ ही, पर द्रव्यों को भी उनके गुण-पर्यायों सहित जानता है, अतः वे सब भी ज्ञेय हैं। अतः जिनवाणी के कथन के अतिरिक्त अपने अनुभव के द्वारा भी यह विश्वास में आता है कि हर एक द्रव्य उन-उन के गुण पर्यायों सहित ज्ञान के द्वारा जानने में आते हैं। अतः वे सबके सब ज्ञेयतत्त्व हैं। इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व में सारे जगत के छहों द्रव्यों का उनके गुण पर्यायों सहित समावेश हो जाता है, इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व के बाहर कुछ रह ही नहीं जाता, ज्ञेयतत्त्व का विस्तार इसप्रकार समझना चाहिए।

उपरोक्त ज्ञेयतत्त्व का इतना विशालतम विस्तार सुनकर एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है, कि इतने बड़े विस्तार को समझना कैसे ? तथा यह सब समझने से हमारी आत्मा को शान्ति कैसे प्राप्त होगी?

समाधान :— जीव का प्रयोजन तो एकमात्र शान्ति प्राप्त करना है। मात्र जानने में आ जाने से अशान्ति नहीं होती, बल्कि उनमें उलझने से अशान्ति उत्पन्न होती है। अतः समस्त ज्ञेयों को स्व और पर में विभागीकरण करके, शान्ति प्राप्त करने के लिये स्व के अनुसंधान में तो उलझना और पर को मात्र उपेक्षापूर्वक जान लेना। अतः शान्ति प्राप्त करने की दृष्टि को मुख्य रखकर समस्त ज्ञेयतत्त्वों को स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक समझना चाहिए।

ज्ञेयतत्त्वों का स्व पर में विभागीकरण

ज्ञेयतत्त्वों को स्व पर के विभागीकरण पूर्वक समझना ही भेदज्ञान

प्रगट करने का उपाय है। जगत् के छहों अनन्तानन्त द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों में ही परिणमते रहते हैं अतः ज्ञेय अनन्तानन्त होते हुये भी विभाजन के लिये सिमटकर मात्र छह में रह जाते हैं। तब हमको हमारे प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन समस्त ज्ञेयतत्त्वों को स्व तथा पर ऐसे दो विभागों में विभक्त कर समझना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि स्व तो मात्र अकेला एक ही होता है और ज्ञेय तो अनेक (अनन्त) भी हो सकते हैं। प्राणी मात्र की सामान्य रूप से सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जिसको अपना मान लेता है, उसकी प्राणपन से रक्षा करे बिना नहीं रहता उसके लिये सर्वस्व समर्पण कर देता है और जिसको पर मानता है, उसका नाश हो जाने पर भी उसके लिए किंचित् विचलित नहीं होता। अतः हम भी अगर समस्त ज्ञेयतत्त्वों को स्व तथा पर ऐसे दो भागों में विभक्त कर लेते हैं, तो हमारी एक बहुत बड़ी समस्या समाप्त हो जाती है।

प्रवचनसार गाथा ९० के गाथार्थ तथा उसकी टीका में कहा भी है—

"मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाले बुधजन इस जगत में आगम में कथित अनन्त द्रव्यों में से किन्हीं गुणों के द्वारा — जो गुण अन्य के साथ योग रहित होने से असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुये हैं, उनके द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो।" अर्थात् मोह का क्षय करने के इच्छुक पण्डितजन आगम कथित अनन्त गुणों में से असाधारण और भिन्न लक्षणभूत गुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में यह स्वद्रव्य है और यह परद्रव्य है, ऐसा विवेक करो।

पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ७८में कहा है—

"प्रथम तो दुःख दूर करने में आपा-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिये।"

क्योंकि अनन्तानन्त ज्ञेयतत्त्वों में से, रक्षा करने के लिए तथा आकुलता रूपी दुःख की निवृत्ति कर सुखी होने के लिए तो मात्र एक स्वज्ञेय का ही अनुसंधान करना है, उसी को समझना है अर्थात् जो कुछ भी करना है, मात्र एक स्वज्ञेय में ही करना है। बाकी बचे अनन्तानन्त ज्ञेय-पदार्थ परज्ञेय रूप में रह जाने से मेरे लिए वे सब मात्र उपेक्षणीय ही रह जावेंगे। वे सब ज्ञेय तो हैं लेकिन पर होने के कारण वे मेरा न तो हित ही कर सकते हैं और न कुछ अहित ही कर सकते हैं। अतः मेरी आत्मा को सुखी होने के लिए अप्रयोजनभूत होते हुए भी मेरे ज्ञान में ज्ञेय के रूप में उपस्थित तो होते ही हैं और होंगे भी। क्योंकि जिनकी जगत में सत्ता है उनमें प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण तो है ही; अतः वे ज्ञान में ज्ञेय के रूप में तो आवेंगे ही। उनके अस्तित्व का प्रकाशन भी तो मेरे ज्ञान से ही होता है अतः ज्ञान होना तो अनिवार्य है। लेकिन ज्ञेयों के ज्ञान में आते ही अगर उनको स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक ही जानूं तो मेरी समस्या हल हो सकती है। क्योंकि अनन्तानन्त ज्ञेयतत्त्वों में से मेरे लिए अनुसंधान करने योग्य, समझने योग्य तो मात्र एक स्वज्ञेय रूप मेरा आत्मा ही रह जाता है। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य अनन्तानन्त ज्ञेयतत्त्व समस्त परज्ञेय के रूप में रह जाते हैं।

इसप्रकार हमारी एक बड़ी समस्या कि इन अनन्तानन्त ज्ञेय तत्त्वों को हम कैसे समझेंगे? वह हल हो जाती है। हमारी आत्मा का पुरुषार्थ जो उन परज्ञेयों को पर नहीं मानने से सबमें भटकता फिरता था, आकुलित रहता था, दुःखी होता था वह समस्त ज्ञेयों के प्रति परपना आते ही अत्यन्त विश्राम को प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण पुरुषार्थ अपने आत्मा के अनुसंधान में ही लगाने की रुचि तीव्र हो जाती है। साथ ही परज्ञेयों के प्रति पापना आ जाने से उपेक्षाबुद्धि हुए बिना भी नहीं रहती। अतः उपर्युक्त ज्ञेयतत्त्वों की स्थिति समझ लेने से स्पष्ट हो जाता है - निर्णय में आ जाता है कि मेरे को मेरी सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए जो भी करना हो वह सब

एक मात्र, मेरे स्वआत्मा-स्वज्ञेय में ही करना है। अतः मुझे तो समस्त ज्ञेयों को स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक, स्वज्ञेय को अनुसंधान के लिए एवं परज्ञेयों को उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न करने के लिए ही समझना प्रयोजनभूत है।

स्वज्ञेय की यथार्थ खोज में परज्ञेय उपेक्षित हो ही जाते हैं

इस विषय को दृष्टान्त के माध्यम से समझेंगे, जैसे किसी व्यक्ति को अपरिचित नगर में अपने स्वजन के पास जाना हो, और उसका निवास स्थान भी किसी अप्रसिद्ध गली आदि में हो, तो वह व्यक्ति उसको खोजने के लिए क्या पद्धति अपनावेगा? इस पर विचार करना चाहिए।

सर्वप्रथम उस नगर में वह अनेक व्यक्तियों से अपने स्वजन के मोहल्ले का पता पूछेगा, उस मोहल्ले तक पहुँचने का मार्ग भी समझेगा, मार्ग में आने वाले नामांकित चौराहे, आदि के सम्बन्ध में भी समझेगा। उस मोहल्ले में पहुंच जाने पर भी उस गली में पहुँचने के लिए नामांकित स्थानों, भवनों, व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त करेगा। इसप्रकार की ज़ानकारी प्राप्त करते-करते खोजते-खोजते जब वह अपने स्वजन के निवास पर पहुँच जावे उस समय अगर उससे पूछा जावे कि वो किस-किस व्यक्ति से मिला था तो क्या वह उन सबकी जानकारी दे सकेगा? नहीं बता सकेगा क्योंकि जानते समय ही उसने उनको उपेक्षित दृष्टि से जाना था। स्व घर पहुँचते ही स्वजन मिलन के आनन्द की अनुभूति में ऐसा आनन्दित हो जाता है कि मोहल्लों, उनका मार्ग, नामांकित स्थान, गली के मकान, उस स्वजन के घर तक पहुँचने के लिए इतना भारी श्रम उठाया था तथा जिन-जिन से सम्पर्क किया था, उन सबकी सहायता के बिना वह स्वजन के निवास पर पहुँच भी नहीं सकता था, इतने उपकारी को भी तत्समय ही भुला देता है, किंचित् भी संकोच नहीं करता। यथार्थ स्थिति भी यही है कि उन सबको जानने का मुख्य उद्देश्य तो स्वजन के निवास तक पहुँचना था, उनके जानने के समय ही श्रद्धा में यह स्पष्ट था

कि स्वजन के निवास स्थान पर पहुँचने पर इन सबका कोई उपयोग नहीं है।

इसीप्रकार स्वआत्मारूपी स्वज्ञेयतत्त्व को समझने के लिए उपयोगी, जितने व जिन-जिन ज्ञेयों को समझना आवश्यक हो उनको उतना ही समझना अर्थात् जानना पर्याप्त है, जितना कि दृष्टान्तान्तर्गत निवास तक पहुँचने के लिए आवश्यक था, उन सबको जानते हुए भी अन्दर श्रद्धा में उनके प्रति परपना होने से उनकी विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए एक क्षण भी नहीं रुकता। गंभीरता से विचार किया जावे तो उन सबके जानते समय ही, यह समझते हुए कि उपर्युक्त जानकारी के बिना स्वजन नहीं मिल सकता, उन सबके प्रति अन्दर श्रद्धा में "परपना" होने से उन सबको छोड़ने के भावसहित ही जानता एवं समझता था। इसीप्रकार आत्मार्थी परज्ञेयों के ज्ञान में ज्ञात होते समय ही उनमें परपना होने से, जानने के प्रति उत्साहहीन रहते हुये उपेक्षित भाव से जान तो लेता है; लेकिन उनके अनुसंधान आदि में अटकता नहीं।

स्वज्ञेय को खोजने की पद्धति

उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार आत्मार्थी जीव को भी "स्वज्ञेय" अर्थात् स्वआत्मतत्त्व को, जिसको अनादिकाल से भूला हुआ है और लोकालोक के अनंतानंत ज्ञेयद्रव्यों में खोया हुआ है, ऐसे स्वजनरूपी स्वज्ञेय को खोजने के लिए भी उपर्युक्त दृष्टान्त की पद्धति ही अपनानी होगी।

प्रवचनसार गाथा १४५ की टीका में कहा है —

"इसप्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसे वास्तव में उसमें अंतःपाती होने पर भी अचिन्त्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्ति रूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं, इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही है और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान हैं, इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।"

इस लोकालोक में विस्तरित अनन्तानन्त ज्ञेयद्रव्यों में अनादिकाल से खोये हुये निजआत्मद्रव्य को खोज करने की सर्वप्रथम उग्र जिज्ञासा जाग्रत होनी चाहिए। उग्र जिज्ञासा युक्त खोजक जीव, सर्वप्रथम तो, जिसने अपने स्वज्ञेय का प्रत्यक्ष परिचय किया हो, ऐसे ज्ञानी पुरुष का समागम प्राप्त करेगा; क्योंकि जिसने प्रत्यक्ष परिचय किया हो, वही सच्चा-सही व सुगम मार्ग बता सकेगा। फिर उसके बताये मार्ग को पूर्ण समर्पणभाव के साथ समझकर निर्णय कर उस पर श्रद्धा करना चाहिये। ज्ञानी पुरुष के अभाव में ऐसे साहित्य अर्थात् जिनवाणी जिसमें वह मार्ग जिसमें बताया गया हो के अध्ययन द्वारा उसमें से मार्ग खोजने का प्रयत्न करना चाहिये। अध्ययन में आया हुआ मार्ग जब तक भली प्रकार समझ में नहीं आवे, पूरे प्रयत्न के साथ बार-बार विचार-मंथन-चिन्तन करना चाहिये। उसमें आई हुई अपेक्षाओं को समझने के लिए विशेषज्ञों से सम्पर्क करना चाहिये। उनके बताये हुये मार्ग की सत्यता की परीक्षा करके, हृदयंगम करने की पूरी चेष्टा करना चाहिये। कदाचित् विशेषज्ञों का भी समागम प्राप्त नहीं हो तो, साधर्मी खोजक पुरुषों के साथ चर्चा करे कि जो उसने समझा है वह ही यथार्थ है या नहीं तथा परीक्षा करे कि उसके द्वारा परिणति में वीतरागता उत्पन्न होती है या नहीं? आपसी चर्चा से कोई नये तथ्य द्वारा सत्यता जानने में आवे तो उस पर भी गंभीरता से विचार करके सत्य मार्ग खोज लेना चाहिये।

सबका तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है। उपरोक्त प्रकार के समस्त विचार-मंथन का निष्कर्ष परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति होनी चाहिये। जिससे वह होती जाने, उस ही मार्ग को सत्य मानकर दृढ़ता के साथ निःशंक होकर, उसकी प्रतीति करे। फलस्वरूप उसको निज आत्मद्रव्य से मिलन करने अर्थात् प्रत्यक्ष करने का यथार्थ मार्ग प्राप्त हो जावेगा।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५८ में भी कहा है कि—

"तथापि परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये, सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है? वहां अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न माने तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल कौन है? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसप्रकार जब तक निर्धार न हो, तब तक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समान बुद्धि के धारक हों, उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो, वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे, इसीप्रकार जब तक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर भावभासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम (पुरुषार्थ) किया करे।"

"ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है, वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसीप्रकार भासित होता है, ऐसा निर्णय होता है।"

प्रश्न :— उपर्युक्त समस्त प्रक्रिया तो मात्र अपने स्वज्ञेय को खोजने की अर्थात् सत्यार्थ मार्ग समझने की यथार्थ पद्धति है, लेकिन इस मार्ग को समझने में तो बहुत पराधीनता होने से कठिनता लगती है द्व फिर भी आत्मद्रव्य के अनुभव करने का पुरुषार्थ तो बाकी रह जाता है?

समाधान :— उपर्युक्त कथन से मार्ग समझने में अनेक प्रकार की पराधीनता लगती है, लेकिन सिद्धान्त में ऐसा नहीं है। यथार्थ मार्ग समझ में आने पर आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग अत्यन्त सरल एवं स्वाधीन है। कारण स्वआत्मा स्व का द्रव्य ही तो है, कहीं बाहर से लाना नहीं है और जिसको अनुभव करना है, वह भी स्व की पर्याय ही है, वह भी कोई अन्य नही है। द्रव्यपर्याय दोनों के एक ही प्रदेश हैं अर्थात् द्रव्य भी एक, क्षेत्र भी एक, काल भी एक और भाव भी एक ही है, इसमें किसी

अन्य का कुछ भी तो नहीं है, बाहर से कुछ लाना नहीं है, अतः अत्यन्त स्वाधीन है, फिर उसका प्राप्त करना कठिन कैसे हो सकता है? लेकिन परज्ञेयों में अपनापन मानकर, आत्मा की ओर से विमुख होकर, पर्याय को परज्ञेयों के सन्मुख कर रखा है। ऐसी स्थिति में वह पर्याय स्वआत्मा का अनुभव कैसे कर सकती है? जिसकी ओर सन्मुखता होगी उस ही से तो सम्मिलन हो सकता है, लेकिन जिधर पीठ होगी उससे सम्मिलन कैसे हो सकता है? यह एक ही कारण है कि अनादिकाल से स्वयं की पर्याय ही स्वयं अपने द्रव्य से सम्मिलन कर, आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकी।

उपर्युक्त विचार-विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि इस आत्मा का कर्तव्य मात्र यही रह जाता है कि अपनी ही पर्याय की परसन्मुखता समाप्त कर स्वसन्मुखता करने का उपाय खोज लेवे। उस ही का नाम मोक्षमार्ग है, उसी का नाम शान्ति प्राप्त करने का संक्षेप एवं सरल उपाय है। सच्चे आत्मज्ञानी पुरुष के द्वारा अथवा जिनवाणी के विचार, चिन्तन, मनन, चर्चा, वार्ता आदि के माध्यम से जो मार्ग समझा हो उसकी यथार्थता की परीक्षा करने की कसौटी भी यही है कि "यह जो मार्ग हमने समझा है, वह, पर्याय की परसन्मुखता का अभाव कर स्वसन्मुखता उत्पन्न कराता है या नहीं?" अगर वह मार्ग उपर्युक्त दशा प्राप्त कराने का उपाय है, तो वह मार्ग ही यथार्थ है, उपादेय है इसलिए निःशंक होकर पूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अगर उस मार्ग के द्वारा परसन्मुखता का अभाव नहीं हो पाता है तो समझना चाहिए कि वह मार्ग यथार्थ नहीं है। अतः पुनः खोज करके यथार्थ मार्ग प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जो मार्ग उपर्युक्त कसौटी पर यथार्थ सिद्ध हो, वही सच्चा मार्ग जानकर, उस ही पर श्रद्धा कर, पूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा निःशंक होकर साधन करना चाहिए। अपनी पर्याय को निज आत्मद्रव्य के साथ सम्मिलन प्राप्त कराके अत्यन्त तृप्त होकर आनन्दित होने का यही एक मार्ग है। भगवान अरहन्त भी

इस ही मार्ग के द्वारा अपनी पर्याय को आत्मसन्मुख कर आत्मा के साथ ऐसे एकमेक हो गये कि पर्याय बाहर निकलने को उत्सुक ही नहीं होती। फलतः अनन्त काल तक उस ही आनन्द का अनवरत उपभोग करते रहते हैं। यथार्थ मार्ग तथा यथार्थ पुरुषार्थ की पहचान भी यही है कि उसके फल में निश्चितरूप से आत्मा के प्रत्यक्षीकरणपूर्वक पर्याय अभेद होकर अपनी अनुभूति में अपूर्व आनन्द प्रगट करे। यथार्थ मार्ग एवं यथार्थ पुरुषार्थ के फल में आनन्द की अनुभूति प्रगट न हो यह असंभव है। यह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द होने से अपूर्व हो जाति का होता है। यह आनन्द भगवान् अरहंत के आनन्द की जाति का ही होता है। लेकिन ज्ञानी छद्मस्थ को यह काल अत्यल्प होता है, जो कि यथार्थ पुरुषार्थ के द्वारा बढ़ते-बढ़ते भगवान अरहंत के रूप में पूर्ण हो जाता है। अतः जिस मार्ग के द्वारा एवं पुरुषार्थ द्वारा भगवान अरहंत बना जा सकता है वह ही एकमात्र वास्तविक मोक्षमार्ग हो सकता है, अन्य को यथार्थता कैसे प्राप्त हो सकती है?

निष्कर्ष यह है कि मार्ग के समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। ऐसा न हो कि गलत मार्ग को सच्चा मार्ग मानकर, उसके अनुसार पुरुषार्थ करते-करते सारा मनुष्यभव ही समाप्त हो जावे और यह भव छूटने के बाद, पुनः सत्समागम एवं जिनवाणी के समागम का योग मिलना भी संदिग्ध होकर, अनन्त संसार का परिभ्रमण प्राप्त होवे। अतः पूर्ण सावधानीपूर्वक, यथार्थ मार्ग को अपनी विवेक रूपी कसौटी से परखकर स्वीकार करके निर्णय करना चाहिये, यही एकमात्र कर्तव्य है।

परसन्मुखता कैसे दूर हो?

यह तो हमारे अनुभव से स्पष्ट है कि जिस ओर की हमारी रुचि होती है, उपयोग उस ही ओर दौड़े बिना रहता नहीं, हम चेष्टा करके भी उपयोग को उधर से हटाना चाहें तो भी हटता नहीं है और हट भी जावे

तो पुनः-पुनः उस ओर ही दौड़ जाता है । जिसको अपना माना हो, उसकी सुरक्षा करने की, बृद्धि करने की, बाधा पहुँचाने वाले कारणों को दूर करने आदि की रुचि उत्पन्न हुए बिना रहती ही नहीं है। साथ ही जिनको अपना नहीं माना हो, उस ओर की रुचि उत्पन्न होना तो दूर, वरन् उसका सर्वस्व नाश हो जाने पर भी, किंचित्मात्र चिन्ता नहीं होती। प्राणिमात्र की यह सहज स्थिति अनुभवसिद्ध है। उपर्युक्त स्थिति से यह भी स्पष्ट है कि इस जीव ने अभी तक अपने निजआत्मारूपी स्वज्ञेय को, जो कि स्वज्ञेय भी है तथा ज्ञान भी है, उसमें कभी भी अपनापन स्थापन नहीं किया और परज्ञेय जो अपने से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं, किसी प्रकार भी अपने नहीं हैं और न कभी अपने हो ही सकते हैं, उन्हीं में अपनापन स्थापन कर उन्हीं को अपना मान रखा है। इसके फलस्वरूप मेरी रुचि परज्ञेयों के रक्षण, पोषण, वृद्धि आदि की ओर ही निरन्तर दौड़ती रहती है और यही कारण है कि परसन्मुखता कभी दूर हुई ही नहीं है और जब तक परज्ञेयों में आत्मबुद्धि अर्थात् अपनापन रहेगा, तब तक परसन्मुखता कभी दूर हो भी नहीं सकती और स्वज्ञेय की सन्मुखता भी नहीं हो सकती।

निष्कर्ष यह है कि अपनी पर्याय की परसन्मुखता दूर करके स्वसन्मुखता करनी हो तो, स्वआत्मा जो कि अपना ही है, कभी भी पर मानें तो भी पर नहीं हो सकता, उसमें आत्मबुद्धि अर्थात् अपनापन उत्पन्न करे, यह ही एकमात्र उपाय है। पर्याय को स्वसन्मुख करने का, अन्य कोई उपाय है ही नहीं। पर्याय की स्वसन्मुखता हुये बिना स्व आत्मा का मिलन अर्थात् स्वात्मानुभव भी नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह है कि जगत् के समस्त ज्ञेय पदार्थों को स्व और पर के विभागीकरणपूर्वक समझना मात्र ही नहीं है, वरन् आत्मबुद्धिपूर्वक स्वज्ञेय को स्व के रूप में समझना और मानना है तथा परज्ञेयों में अनादिकाल से आत्मबुद्धि चली आ रही है उसके अभावपूर्वक तथा परत्वबुद्धि पूर्वक पर के रूप में ही, समझना और मानना है।

प्रवचनसार गाथा १८३ के शीर्षक में कहा है —

"अब यह निश्चय करते हैं कि जीव को स्व द्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है।"

जानना व मानना एक साथ कैसे हो सकता है?

जानना तो ज्ञानगुण की पर्याय है तथा मानना श्रद्धा गुण की पर्याय है। द्रव्य तो अनन्त गुणों का एक पिण्ड है। अतः आत्मद्रव्य के हर एक समय के परिणमन अर्थात् उत्पाद में अनन्त गुणों का उत्पाद एक साथ ही होता है। अतः ज्ञानगुण के साथ श्रद्धागुण का भी तत्समय ही उत्पाद होने से जानना व मानना एक साथ होना ही चाहिए और ऐसा ही हमारे अनुभव में भी आता है। जैसे किसी मित्र को जानने के साथ ही यह मेरा हित चिन्तक है ऐसी मान्यता तत्समय ही वर्तती हुई अनुभव में आती है। उसी प्रकार स्वज्ञेय को जानने के साथ ही स्वपने की मान्यता सहित जानना हो तथा परज्ञेय के ज्ञान के समय परपने की मान्यता सहित ही जानना हो तो वह यथार्थ जानना है। आत्महित के लिए इसप्रकार का जानना ही कार्यकारी है। अज्ञानी को भी मान्यता रहित मात्र अकेला जानना कभी होता ही नहीं क्योंकि परिणमन करे बिना श्रद्धागुण किसी भी समय रह ही नहीं सकता। यही कारण है कि यह आत्मा परज्ञेयों में अनादिकाल से आत्मबुद्धि होने से, परज्ञेयों को स्व के रूप में ही जानता एवं मानता चला आ रहा है; यह मान्यता प्रत्यक्ष विपरीत होने से जिनवाणी में ऐसी मान्यता अर्थात् श्रद्धा को विपरीत श्रद्धा, मिथ्यामान्यता, मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि अनेक नामों से कहा गया है।

स्वसन्मुखता प्रगट करने का उपाय

इस आत्मा की कोई प्रकार की अपेक्षा रखे बिना ही परद्रव्य स्वतंत्रता से अपने-अपने गुण पर्यायों में परिणमन करते हैं, लेकिन अज्ञानी अपने को उन सबका स्वामी मानकर, अपने अनुकूलों को बनाये रखना

तथा प्रतिकूलों को अपने अनुकूल परिणमाना चाहता है। लेकिन वे तो स्वतंत्रतापूर्वक अपने परिणमन से परिणमते हैं, इसके अनुकूल ही कैसे परिणमते रहेंगे ? फलतः अज्ञानी आकुलित-व्याकुलित रहता हुआ निरन्तर ऐसे प्रयास करता-करता ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके विपरीत ज्ञानी तो अपने आत्मद्रव्य में ही अपनापन मानते व जानते हुए परिणमन करता रहता है। स्व तो त्रिकाल एकरूप अपरिवर्तनीय ही रहता है, पर्याय अगर अपने स्वद्रव्य से एकमेक होकर ही परिणमती है तो परमशान्ति का अनुभव करेगा; ऐसी परम शांति का अनुभव हो। श्रद्धा यथार्थ प्रगट होने की मुख्य पहिचान भी यही है। ऐसी दशा प्रगट होने वाले को ही सम्यग्दृष्टि आदि अनेक नामों से जिनवाणी में कहा गया है। इस विषय की चर्चा विस्तारपूर्वक भाग-३ में की जावेगी।

परसन्मुखता का अभाव करके स्वसन्मुखता प्रगट करने का एकमात्र यही उपाय है कि समस्त ज्ञेय-पदार्थ इस आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, पर हैं, उपेक्षणीय हैं और एकमात्र ज्ञाता स्वभावी मेरा स्वआत्मद्रव्य ही मैं हूँ ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो। यही मेरा अभिन्न सर्वस्व है, और यही एकमात्र अपेक्षा करने योग्य अर्थात् मुख्य है, निश्चय है, जो कुछ भी कहो यही है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होते ही स्वसन्मुखता प्रगट हो जाती है। समयसार ग्रन्थ के कलश २०० में आचार्य अमृतचंद्रदेव ने कहा भी है कि —

नास्तिसर्वोपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥

अर्थ :— **परद्रव्य और आत्मद्रव्य का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार कर्तृत्व कर्मत्व के संबंध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है ?**

इसप्रकार परसन्मुखता का अभाव कर स्वसन्मुखता प्रगट करने का यही एकमात्र उपाय है।

मात्र स्वज्ञेयतत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है

हमने यहाँ ज्ञेय एवं हेय-उपादेय तत्त्वों के मूल विषय के अन्तर्गत "ज्ञेयतत्त्व" के संबंधों में विस्तार से चर्चा की। ज्ञेयतत्त्वों की अपरिमित संख्या होने पर भी उन सब में एक स्वआत्मद्रव्य को ही स्वज्ञेय जानकर व मानकर शेष अपरिमित विस्तार वाले समस्त ज्ञेय समूह को अपनी आत्मा से पर हैं- यह जानना व मानना चाहिए। श्रद्धा में सभी परज्ञेयों से सभी प्रकार के संबंध तोड़कर, उनके प्रति उपेक्षित रहकर, एकमात्र स्व को ही अनुसंधान एवं विस्तारपूर्वक समझने योग्य मानना चाहिये। अन्य सब ज्ञेयों की चिन्ता छोड़कर उनके प्रति निरर्थक, भटकनेवाली बुद्धि को समेटकर, एकमात्र स्वज्ञेय के अनुसंधान में ही जीवन के बचे क्षण लगाकर, यथार्थ निर्णय प्राप्त करना चाहिये। ऐसा ध्येय बनाना चाहिए। इस ही से प्रयोजन की सिद्धि संभव है। उपर्युक्त ध्येय बनाने के बाद अपने स्वज्ञेयतत्त्व को कैसे समझना? इस विषय पर अब चर्चा करेंगे।

स्वज्ञेय का अनुसंधान

स्वज्ञेयतत्त्व के अनुसंधान की पद्धति

"सुखी होने का उपाय भाग-१" के माध्यम से हमने यह भलीभाँति समझा है कि इस विश्व में जाति अपेक्षा छह प्रकार के और संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य व उसकी किसी भी समय की पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य जो भी करता है, अपने द्रव्य में ही करता है। अतः मैं भी एक द्रव्य हूँ, और अपने स्वक्षेत्र में ही रहते हुए अपनी पर्यायों में कुछ कर सकता हूँ। इसलिए मेरा कार्य मेरे ही द्रव्य तक सीमित है, पर के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं है।

तत्पश्चात् चर्चित विषय ज्ञान व ज्ञेय के विभागीकरण अर्थात् स्व-पर के भेदज्ञान विषय के अन्तर्गत हमने यह समझा है कि मात्र एक मेरे आत्मद्रव्य के अतिरिक्त, जगत के सभी पदार्थ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित, मेरे ज्ञेयमात्र ही नहीं, परज्ञेय हैं और मेरा आत्मद्रव्य स्वयं ज्ञाता भी

है तथा मेरा स्वज्ञेय भी है। परज्ञेय मेरे से भिन्न होने से आत्मा का उनसे कुछ भी संबंध नहीं है, अतः उनमें आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता। अतः वे अत्यन्त उपेक्षणीय है, मेरे जीवन का एक क्षण भी उनकी चिन्ता में क्यों बर्बाद करूँ? इसलिये मेरे अनुसंधान करने योग्य तो मेरे लिए मात्र एक मेरा स्व-आत्मा ही रह जाता है।

इसप्रकार के निर्णयों से यह आत्मा एकमात्र अपनी आत्मा के अतिरिक्त समस्त द्रव्यों के कर्तृत्व आदि के भारी बोझ से निर्भार होकर, सभी द्रव्यों में बिखरे हुए अपने पुरुषार्थ को सब ओर से समेटकर, एकमात्र अपने स्व-आत्मद्रव्य के अनुसंधान द्वारा अपनी आत्मा में शांति प्राप्त करने का मार्ग समझने का प्रयास करता है।

ऐसा आत्मार्थी जीव, सब तरफ से अपनी बुद्धि को समेट कर, श्रद्धा में सबसे संबंध तोड़कर, एकमात्र अपने आत्मा के अनुसंधान में ही अपनी बुद्धि को लगाता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा भी है कि —

"काम एक आत्मार्थनो, बीजो नहीं मन रोग।"

ऐसे आत्मार्थी के अभिप्राय में स्व-आत्मा ही एक मुख्य हो जाता है, और जगत के सभी कार्य गौण हो जाते हैं। धन-सम्पदा-वैभव आदि के बढ़ने से होने वाला हर्ष एवं घट जाने से होने वाला खेद, स्वतः ही गौण हो जाता है। वह जानता है कि उनका घटना-बढ़ना तो उनके आधीन है, वे तो परद्रव्य हैं, मेरे ही पूर्वकृत पुण्य-पाप के उदय के साथ उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। मेरे वर्तमान पुरुषार्थ से उनमें कुछ भी होने वाला नहीं है। अतः आत्मार्थी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता। इसी प्रकार शरीर की स्वस्थता अथवा अस्वस्थता होने पर, उनको अन्य द्रव्य के कार्य मानने से वे भी गौण हो जाते हैं। अपना आत्म-अनुसंधान मुख्य होने से वह उससे च्युत नहीं होता। यही कारण है कि आत्मार्थी का बाह्य-जीवन भी स्वतः पवित्र हो जाता है। उसकी लौकिक प्रतिष्ठा के कार्यों में, धर्म व समाज के नाम पर अपना समय

फँसा देने के कार्यों में मान-बड़ाई प्राप्त करने के कार्यों से दूर रहने की मनोवृत्ति सहज ही बन जाती है। विषय-भोगों आदि की वृत्ति खड़ी हो जाने पर भी, अथवा कषाय उत्पन्न हो जाने पर भी उसके प्रति अंतरंग रुचि का अभाव होने से उनमें ज्यादा उलझता नहीं एवं तत्संबंधी विकल्पों का शीघ्र ही अभाव करके, आत्म-अनुसंधान के अपने कार्य को मुख्य रखकर उस ही में संलग्न रहने की रुचि रखता है। इन सभी कारणों से उसका अन्तरंग एवं बहिरंग जीवन आदर्श बन जाता है।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक ग्रंथ में लिखा है —

"आत्मध्यानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेत्चिरं ।
कुर्यात् दर्थवशात् किंचित् वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥

अर्थ : — आत्मध्यान को छोड़कर अन्य कार्य को बुद्धि में अनेक समय तक धारण नहीं करना चाहिए। प्रयोजन वश अन्य कार्य करना भी पड़े तो वचन तथा शरीर द्वारा करे, मन को न लगावे।"

ऐसा आत्मार्थी जीव अपनी आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से स्वयं के आत्म अनुसंधान में, तीव्र रुचि से लग जाता है, क्योंकि उसे यह विश्वास जाग्रत हो गया है कि मेरी शान्ति कहीं बाहर से नहीं आ सकती। शान्ति तथा अशान्ति दोनों ही मेरी पर्याय में होती हुई अनुभव में आती है; अतः आत्मिक शान्ति भी मेरे अन्दर ही है, अन्दर से ही पर्याय में प्रगट होगी आदि-आदि। ऐसा आत्मार्थी जीव जब आत्मा का अनुसंधान करता है, तो उसको अनेक समस्याओं के संबंध में स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इनके निवारण होने से ही उसके प्रयोजन की सिद्धि होगी।

इसप्रकार के आत्मानुसंधान के लिये सहज ही शास्त्रों के अध्ययन की रुचि होती है। सत्समागम के द्वारा अपने अनुसंधान में आने वाली कठिनाइयों के निवारण के लिये उनका समागम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अनुसंधान के सहायक ऐसे चिन्तन मनन के लिये एकान्त प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उपरोक्त प्रयत्नों की कठिनता और दुर्लभता

अनुभव करते हुये जो उनको भी पार करके अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुसंधान पूर्वक आत्मसाधना के द्वारा आत्मिक शान्ति प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे अरहन्त सिद्ध परमात्माओं के प्रति हृदय में अत्यन्त भक्ति उमड़ने से उनकी पूजा भक्ति आदि के कार्य भी करता है। आत्मसाधना के कार्य में संलग्न साधक जीव जो आगे बढ़ चुके हैं उनके प्रति सहज ही आदरभाव वर्तता है अतः उनके अनुकरण एवं समागम का प्रयत्न करता रहता है। ऐसे आत्मार्थी जीव का इसप्रकार जीवन ही परिवर्तित हो जाता है।

स्वज्ञेय में भी अनेकता दिखती है, "मैं अपनापन किसमें मानूं?"

जगत के अनन्तानन्त ज्ञेय द्रव्यों में से परज्ञेयों के साथ संबंध तोड़कर एकमात्र स्वज्ञेय अर्थात् निज द्रव्य को ही "स्व" अर्थात् "मैं" के रूप में स्वीकार कर लेने पर, ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाती है कि एकमात्र स्वज्ञेय तत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है।

परज्ञेय मेरे ज्ञान के विषय जरूर बनेंगे, लेकिन वे सब मात्र उपेक्षा योग्य ही हैं। परज्ञेयों को स्व मानकर उनके अनुसंधान में ही अभी तक अनंतभव नष्ट कर चुका हूँ। अब तो मात्र अपने आत्मा को ही अपना स्व मानकर उस के ज्ञान श्रद्धान आचरण में ही यह जीवन लगाना है, ऐसी श्रद्धा जागृत हो जाती है। ऐसी श्रद्धा हो जाने पर, जब अपने आत्मा में मैंपना स्थापित करने के लिये अनुसंधान करने का प्रयास करता है, तो वहाँ अनेक प्रकार की अनेकताओं के दर्शन होते हैं। यथा — अज्ञानी जीव को, एक ओर तो रागादि विकारी भाव, दूसरी ओर शांत भाव; एक ओर आकुलतारूप दुःख भाव, एक ओर मंद आकुलता रूप कल्पित सुखाभासभाव; एक ओर जाननरूप क्रिया, एक ओर क्रोधादिरूप क्रिया आदि-आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन करता हुआ ही आत्मा, ज्ञान में ज्ञात होता है। थोड़े भी अभ्यासी जीव को द्रव्य, गुण, पर्याय रूप से; उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप से; द्रव्य स्वभाव एवं पर्याय स्वभाव रूप से अनेकता ही

अनुभव में आती है, अतः समस्या खड़ी होती है कि इन सब में "मैं" कौन हूँ?

समस्या की जटिलता इसलिये भी बढ़ जाती है कि पूर्व में किये गये निर्णयानुसार, छह प्रकार के अनन्तानन्त द्रव्य समूह में "मेरेपने" की मान्यता वर्तती थी। लेकिन पूर्वकथित तर्क, आगम, युक्ति, अनुमान एवं अनुभव द्वारा मेरे निर्णय में ऐसा दृढ़ विश्वास हो गया था कि इन सब को जाननेवाला जीव द्रव्य वह मैं स्वद्रव्य हूँ और ये सभी ज्ञेय मेरे से भिन्न होने से वे मैं नहीं हूँ, वे तो उपेक्षितरूप से मेरे जानने में आते हुए मात्र परज्ञेय हैं। लेकिन अब कठिनता यह है कि जिसको मैंने "मैं" के रूप में विश्वास में लिया है उसमें भी अनेकताऐं होने से कठिनता उत्पन्न हो रही है कि "मैंपना" स्थापन किसमें किया जावे? उसका समाधान कैसे हो?

भेदविज्ञान की महिमा

इस समस्या के समाधान का उपाय आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने समयसार के कलश १२१-१३०-१३१ में निम्नानुसार किया है —

"यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है, इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है ॥ १२१ ॥

यह भेदविज्ञान अच्छिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तब तक भाना चाहिये, जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान-ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जावे ॥ १३० ॥

जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं, जो कोई बंधे हैं, वे उसी के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं ॥ १३१ ॥"

उपर्युक्त आगम वाक्यों से हमको हमारी समस्या का समाधान भी प्राप्त होता है, और साथ ही पुरुषार्थ भी जाग्रत होता है। मेरी समस्या

को सुलझाने का उपाय मात्र एक यह ही है कि ज्ञान में आने वाली परस्पर विरुद्ध अनेकताओं को निज आत्मारूपी स्वज्ञेय में भेदज्ञान पूर्वक समझूं।

अतः इन सबको स्व तथा पर के विभाग पूर्वक समझना ही अर्थात् भेदज्ञान करना ही कार्यकारी हो सकता है। अतः आत्मार्थी इन अनेकताओं को भी गंभीरतापूर्वक समझने की चेष्टा करता है।

अनेकताओं के विभागीकरण पूर्वक स्वतत्त्व की खोज

उपर्युक्त अनेकताओं का विभागीकरण किया जावे तो वे सब मूलतः मात्र दो विभागों में बांट देने योग्य हैं। एक तो द्रव्य और दूसरा पर्याय अर्थात् एक तो स्थाई भाव (द्रव्य, सामान्यअंश अथवा ध्रुव भाव) दूसरा पलटता हुआ अनित्यभाव (पर्याय, विशेषअंश विकारी-निर्विकारी भाव) ये दोनों ही भाव मात्र अपने आत्मद्रव्य में ही देखने हैं एवं विश्लेषण करने योग्य है, क्योंकि दोनों ही भाव आत्मा के अस्तित्व में ही हैं, उनका क्षेत्र आत्मा ही है, अतः वे आत्मा के ही हैं और आत्मा में ही उपस्थित रहेंगे।

पर्याय के ज्ञानपूर्वक त्रिकाली ज्ञायकभाव की खोज

आत्मार्थी को फिर प्रश्न खड़ा होता है कि हमको तो आत्मा में मात्र विकारी एवं निर्विकारी भाव अर्थात् अनेक प्रकार के पलटते हुये भावों के अतिरिक्त कोई प्रकार के अन्य भाव अर्थात् किसी भी स्थाई भाव का अस्तित्व ही नहीं दीखता तो भेदज्ञान किसमें करे? दो दिखें तो भेद हो?

उत्तर :— यह बात सत्य है कि इस बहिर्दृष्टि अर्थात् बहिरात्मा जीव को, जिसने अनादिकाल से परज्ञेयों के साथ ही प्रेम अर्थात् मैं पने का सम्बन्ध बना रखा है, उसका ज्ञान मात्र बाह्य की ओर ही केन्द्रित रहता है, कभी भी स्व की ओर स्व की खोज करने के लिये मुख किया ही नहीं है। इसलिए अनादिकाल से स्थाई भाव, (नहीं पलटनेवाला ध्रुवभाव) इसके ज्ञान में अव्यक्त अर्थात् अपरिचित ही रहा है। इस ही कारण अभी

तक इन पलटते हुये भावों को एवं पर्यायाश्रित भावों एवं ज्ञेयों को ही, इसका ज्ञान स्व के रूप में जानता चला आ रहा है। अतः उन्हीं को श्रद्धा गुण भी मैं मानता चला आ रहा है। आगम में ऐसे जीव को पर्यायमूढ़ कहा है। यथा —

"पज्जयमूढा हि परसमयाः" प्रवचनसार गाथा ९३।

फलस्वरूप यह पर्यायमूढ़ जीव पर्याय में पर्यायाश्रित ज्ञेयों अपनापन मानने के कारण अच्छे लगने वाले ज्ञेयों एवं भावों को बनाये रखना चाहता है और बुरे लगने वालों को हटाना चाहता है। लेकिन वे तो मात्र एक समय की अवधि लेकर उपजते और विनशते हैं अर्थात् उत्पाद और व्यय करते रहते हैं, इसकी इच्छानुसार न तो उपजते हैं और न विनशते हैं। यही कारण है कि यह निरन्तर दुःखी-दुःखी बना रहता है; अतः आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि सत्समागम एवं आगम अभ्यास के द्वारा अपने आप में त्रिकालीभाव का अस्तित्व एवं स्वरूप समझे। क्योंकि किसी विषय के समझ में आ जाने के बाद ही चिन्तन, मनन, विचार चलता है। तत्पश्चात् ही उसका अनुमानपूर्वक पक्का निर्णय होकर ज्ञान में स्थान बन पाता है अर्थात् विश्वास में आ जाता है। इसके बाद ही श्रद्धा सम्यक् हो पाती है तथा उसका ज्ञान भी उस विषय को श्रद्धा के अनुसार ही देखता व जानता है।

इसलिये इन क्षण-क्षण में जन्ममरण (उत्पाद, व्यय) करने वाले भावों के साथ अपनेपन का संबंध मानने के कारण, उत्पन्न होने वाली अशांति (दुःख) को दूर करने की सर्वप्रथम अंदर में तीव्र जिज्ञासा जाग्रत होती है; त्रिकालएकरूप स्थाई रहने वाले भाव को खोजने की अंदर में आवश्यकता अनुभव करता है। निश्चय करता है कि त्रिकालीभाव में अपनेपन का संबंध जोड़ने से ही मेरे को शांति प्राप्त हो सकेगी। इन क्षण-क्षण में पलटते भावों के साथ अपनेपने का प्रेम तो मेरे को अशांति ही प्रदान करता है; अतः मुझे मेरा ध्रुवभाव त्रिकालीभाव जिसको आगम में

ज्ञायकभाव के नाम से भी कहा है, उसको समझकर उसमें अपनापन स्थापन करूँ तो वह ज्ञायकभाव हमेशा ध्रुव एकरूप ही रहने से मुझे स्थाई शान्ति का प्रदाता होगा।

ऐसी तीव्र जिज्ञासा खड़ी होने पर वह आत्मार्थी सत्समागम तथा युक्ति के अवलम्बन एवं आगम के माध्यम से उस अव्यक्त त्रिकाली ज्ञायकभाव को समझने का पुरुषार्थ करता है। पक्का निर्णय कर अपने अनुमान ज्ञान में अव्यक्त को व्यक्त करके पूर्ण श्रद्धावान हो जाता है। पक्का निर्णय एवं अनुमान ज्ञान में स्पष्ट हो जाने पर, जैसे-जैसे श्रद्धा दृढ होती जाती है, ज्ञान की परसन्मुखता भी ढीली पड़ती जाती है, कुछ ही समय में ज्ञान स्वसन्मुख होकर ध्रुवभाव, अकर्तास्वभावीज्ञायकभाव में अपनापन स्थापन कर लेता है। फलतः सिद्ध भगवान को प्रगट हुए आनन्द का नमूना स्वाद रूप चखकर, यथार्थ श्रद्धावान होकर, मोक्षमार्गी अर्थात् सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

इसप्रकार अपने अनुभव में अव्यक्त त्रिकाली भाव को व्यक्त करके, अस्थाई, पलटते हुये भावों के प्रति प्रेम व अपनापन, टूट जाने से एवं सहज ही उपेक्षा वर्तने के कारण विकारीभाव क्रमशः निर्बल पड़ते जाते हैं। क्रमशः विकार रहित होते-होते, पूर्ण निर्विकारी होकर, यह पर्याय भी त्रिकालीभाव के साथ ही सम्मिलन प्राप्त कर स्थाई शान्ति प्राप्त कर लेती है। अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त कर लेती है। इस ही मार्ग का नाम साक्षात् मोक्षमार्ग है। यह मार्ग ही आत्मार्थी जीवों को अपने-अपने अनेक प्रकार के चिन्तन, मनन के द्वारा प्राप्त होता है। इस ही कारण समस्त जिनवाणी में इस ही मार्ग को प्राप्त करने के उपायों का अनेक-अनेक अपेक्षाओं से अनेक- अनेक प्रकार से कथन किया गया है। ताकि किसी भी प्रकार आत्मार्थी यह मार्ग प्राप्त कर पूर्ण सुखी हो जावे; यही श्री गुरु की करुणाभरी भावना एवं महान-महान उपकार है।

तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

तत्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है

उपरोक्त मोक्षमार्ग का प्रारम्भ "यथार्थ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन" के बिना नहीं होता। इसीलिये भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अष्टपाहुड में कहा है कि "दंसणमूलो धम्मो" आदि आदि। यही कारण है कि श्रद्धान को यथार्थ करना ही सबसे पहले आवश्यक कर्तव्य है। इसलिये अपने यथार्थ स्वरूप को समझकर एकमात्र त्रिकाली भाव में अपनापन स्थापन करना ही सर्वोपरि कर्तव्य है। यह समझकर ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो कि मेरा त्रिकालीध्रुवभाव, वर्तमान में सिद्ध जैसा ही है। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होते ही आत्मदर्शन हो जाने से, पर्याय में रहने वाले विकारी-निर्विकारी भावों का ज्ञान भी यथार्थ हो जाता है, इसी को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। साथ ही विकारी भावों का अभाव करके निर्विकारी दशा उत्पन्न करने का पुरुषार्थ प्रारंभ हो जाता है, इसही का नाम सम्यक्चारित्र है। सारांश यह है कि यथार्थ-सच्ची श्रद्धा हो जाने के बाद, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथा उसी मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ ही सम्यक्चारित्र है। अतः इन तीनों की एकता को ही जिनवाणी में मोक्षमार्ग कहा गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः" इस ग्रंथ का प्रारम्भ ही इसी सूत्र से किया गया है, तथा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी सम्यग्दर्शन से ही होता है। इसके बाद दूसरा सूत्र है "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"। इसके बाद ही सूत्र आता है "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्"। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम अपने त्रिकालीभाव में अहंपना स्थापन करना चाहिए। लेकिन सात तत्त्वों के स्वरूप को समझे बिना अर्थात् अपने द्रव्य और पर्यायों की यथार्थ स्थिति समझे बिना, हम अपने अंदर मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं कर सकेंगे। अतः हमको सातों तत्त्वों के स्वरूप को भी यथार्थ समझना चाहिये।

सात तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा भेदज्ञान

उपरोक्त सात तत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं। उनमें आस्रव और बंध तत्त्व के विशेष भेद पुण्य और पाप को मिलाने से नव तत्त्व अथवा नव पदार्थ हो जाते हैं। अपरिचित आत्मा का दर्शन करने के लिये अर्थात् आत्मोपलब्धि के लिये भेदज्ञान के साधक ऐसे इन सातत्त्व अथवा नवतत्त्वों को भी विस्तारपूर्वक भली प्रकार समझना चाहिये।

पुण्य, पाप दोनों आस्रव तत्त्व के ही भेद हैं। अतः उन दोनों का आस्रव में ही समावेश कर हम सात तत्त्वों के माध्यम से ही चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम हम इन सातों को निम्नप्रकार विभागीकरण पूर्वक समझ कर आत्मा को समझने का प्रयास करेंगे।

१. द्रव्य और पर्याय के भेद से,
२. हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद से,
३. स्वज्ञेय-परज्ञेय के भेद से
४. सात तत्त्वों की आत्मोपलब्धि में उपयोगिता।

इसप्रकार इस विषय को विस्तारपूर्वक समझने का प्रयास करेंगे।

उपरोक्त सातों को भेदपूर्वक समझने के पूर्व यह दृष्टिकोण स्पष्ट रहना चाहिये कि ये सातों तत्त्व एक आत्मद्रव्य के ही हैं। अतः इनको आत्मा में ही देखना चाहिये। कहा भी है "तस्यभावस्तत्त्वं" "तद्भाव सो तत्त्व" आदि-आदि अर्थात् आत्मा के तत्त्वों को आत्मा में ही देखना चाहिये।

यहाँ प्रश्न होता है कि जिनवाणी में ऐसा भी तो कथन है कि द्रव्यकर्मों का आत्मा में आना सो आस्रव, आत्मा के साथ उनका बंधन वह बंध, तथा द्रव्यकर्मों का आगमन रुक जाना, संवर, और कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा, तथा कर्मों के सर्वथा अभाव को मोक्ष कहा गया है। अतः इस कथन की संधि उपरोक्त कथन से कैसे बैठती है?

उत्तर :— यह कथन भी एक अपेक्षा सत्य है। अज्ञानी आत्मा के संसार भ्रमण के कारणों में, निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कथन किया गया है। उसका यथार्थ मर्म क्या है? उस पर चर्चा आगे की गई है, वहाँ से समझें।

जैनदर्शन का यह तो एक मूलभूत निर्विवाद सिद्धान्त है कि **किसी भी द्रव्य अथवा उसकी किसी भी पर्याय में, अन्य द्रव्य अथवा अन्य द्रव्य की कोई भी पर्याय, कुछ भी नहीं कर सकती।** इस सिद्धान्त को सर्वदा एवं सर्वत्र मुख्य रखकर हर एक कथन का निष्कर्ष निकालना चाहिये। अत: हमको इन सात तत्त्वों के मर्म समझने के लिये भी इन सातों तत्त्वों को आत्मा में ही देखना है, आत्मा में ही खोजना है, आत्मा के अंदर ही विश्लेषण करके समझना है।

जीवद्रव्य और जीवतत्त्व में अन्तर

द्रव्य, पर्याय के माध्यम से जीव तत्त्व को समझने के पूर्व यह समझना आवश्यक है कि जीवद्रव्य में तथा जीवतत्त्व में क्या अन्तर है?

समाधान :— विकारी निर्विकारी पर्यायों सहित जीव को, जीव द्रव्य कहा गया है अर्थात् द्रव्य पर्यायों के समुदायरूप प्रमाण के विषयभूत जीव को जीवद्रव्य कहते हैं। उसकी यथार्थ समझ के बिना छहद्रव्यों के समुदाय रूप अनन्तद्रव्यात्मक लोक में से अपने आप का भिन्न अस्तित्व ज्ञान की पकड़ में ही नहीं आवेगा। अत: अपने आप में अपना अस्तित्व विश्वास में लाने के लिये अनन्त द्रव्यों से भेदज्ञान पूर्वक गुणपर्यायात्मक जीवद्रव्य का ज्ञान अत्यन्त उपकारी है।

लेकिन जब ऐसे जीवद्रव्य का आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये अनुसंधान अर्थात् विश्लेषण किया जाये, तब उसी जीव की विकारी तथा निर्विकारी पर्यायें तो आस्रव संवर आदि तत्त्वों में समावेश हो जाती है। फलत: जीवद्रव्य में से पर्यायांश अर्थात् आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष निकाल देने से, पर्यायों के अतिरिक्त जो शेष रहता है, वह ही सात तत्त्वों

का जीवतत्त्व है। अन्य शब्दों में कहा जावे तो उक्त पर्यायों से रहित, मात्र स्थाईभाव, अनादिअनन्तएकरूप रहनेवाला भाव अर्थात् ध्रुवांशवाला जीव ही जीवतत्त्व है। क्योंकि इस जीव की पर्यायों में पांचों तत्त्वों का समावेश हो जाता है। ध्रुवांश एवं पर्यायांश मिलाने पर दोनों का समूह वही जीवद्रव्य है। अत: जीव का ध्रुव एकरूप रहनेवाला भाव ही जीवतत्त्व है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही जीव को जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व भी कहा जाता है।

१. द्रव्य, पर्याय के भेद से सात तत्त्व

उस जीव तत्त्व में ही अपनेपन की स्थापना करने से जीव को शांति प्राप्त हो सकती है। क्योंकि जो तीनोंकाल एकरूप ही रहता है, पलटता नहीं है, मात्र उस एक का ही आश्रय करने से यानी अपनापन स्थापन कर लेने से उपयोग को अन्य स्थान पर जाने का अवकाश ही नहीं रहता। उपयोग की पलटन का अभाव ही तो निराकुलता है, शांति है, सुख है। अत: यह ही एकमात्र परम उपादेय उत्कृष्ट ध्येय है, यही प्राप्तव्य होने से आत्मार्थी का जीवनाधार है।

उपरोक्त जीवतत्त्व के अतिरिक्त जितना जो कुछ भी बच गया, इस अपेक्षा से वह सब ही इस आत्मा के लिये अजीव तत्त्व में गर्भित हो जाता है। क्योंकि उन सबमें मेरा जीवत्व नहीं मिलता, इस अपेक्षा से तो मेरी स्वयं की पर्यायों में भी मेरा जीवत्व नहीं मिलता क्योंकि वे न तो स्व को जानती हैं और न पर को, उनको जाननेवाला तो मेरा जीवत्व ही है; अत: वे भी अजीव में सम्मिलित हो जाती हैं। उनमें भी परपना मानना ही कार्यकारी है; वे मेरे अनुसार नहीं चलतीं अत: उनको मेरा कैसे माना जावे ? समस्त अजीवद्रव्य तो अजीव तत्त्व में आ ही जाते हैं, लेकिन इस आत्मा के अतिरिक्त जितने भी अन्य जीवद्रव्य हैं वे सब भी मेरे से भिन्न होने से जीव होते हुये भी इस आत्मा की अपेक्षा अजीवतत्त्व में ही गर्भित हो जाते हैं, अर्थात् उनके संबंध में भी जैसा अन्य अजीवद्रव्यों में

परपना माना हुआ है, वैसा ही अपने से पर होने से वे सब भी उनके समान पर ही हैं। इसप्रकार एकमात्र त्रिकालीज्ञायकभाव के अतिरिक्त अन्य सब, चाहे अपनी ही पर्याय हो अथवा अन्य जीव हो, उनमें मेरा अभाव होने से, समस्त ही मेरे ज्ञायक से तो पर ही हैं इसलिये मेरे लिये तो अजीव के समान ही हैं उनमें परपने की श्रद्धा ही जाग्रत करनी चाहिये। अभी तक उन सब में अपनेपन की मान्यता करता चला आ रहा था, अब वह मान्यता छोड़ ही देनी है। उन सब के कार्यों में हस्तक्षेप करने से दुखी हो रहा था, उसका अब अन्त आ जाना चाहिये, उन सबके कर्तृत्व के भार से निर्भार हो जाना ही सुखी होने का उपाय है।

इसप्रकार मात्र जीव, अजीव तत्त्व का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने पर ही आत्मा हल्का होकर निर्भार हो जाने से उसे श्रद्धाजन्य अत्यन्त शान्ति प्राप्त हो जाती है। अभी तक पर के सुधारने बिगाड़ने का अभिप्राय रहने से, निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहता था तथा पर द्रव्य मेरा बिगाड़ सुधार कर देंगे ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण निरन्तर भयाक्रांत भी रहता था, उन सब का अभाव होकर शान्ति प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त कहे गये आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांचों ही तत्त्व, इस जीव की स्वयं की ही पर्यायें हैं। अतः इन पर्यायों को हेय, उपादेय के ज्ञानपूर्वक समझना चाहिये तथा हेय का अभाव कर, उपादेय पर्याय प्रगट करने का उग्र पुरुषार्थ जाग्रत करना चाहिये। क्रमशः ऐसा करने से सम्पूर्ण विकारों का अभाव होने पर पर्याय भी स्वयं द्रव्य जैसी ही हो जाती है और अपने ही स्वतत्त्व त्रिकालीभाव में लीन होकर अनन्तकाल तक आत्मानन्द में ऐसी निमग्न हो जाती है कि बाहर ही नहीं निकलती अर्थात् द्रव्य पर्याय एकमेक होकर परिणमते रहते हैं।

इसप्रकार जीव तत्त्व एवं अजीव तत्त्व को तो द्रव्यांश के माध्यम से भिन्न करके तथा अजीव तत्त्व तो मेरे से भिन्न पर द्रव्य है ही, वह तो पर ही है। आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष पांचों तत्त्व, पर्यायांश होने से ध्रुवांश से भिन्न पर समझते हुये, अपने त्रिकालीज्ञायकभाव स्व जीवतत्त्व

में ही अपनापन स्थापन कर, अन्य सबके प्रति परपना, उपेक्षाभाव करना ही एक मात्र कर्तव्य है।

२. हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्व

उपरोक्त सात तत्त्वों में से, जीवतत्त्व ज्ञेय तो है ही, साथ ही उपादेय रूप ज्ञेय है, लेकिन द्रव्यकर्म सहित अजीव तत्त्व ज्ञेय तो है लेकिन हेय भी है, अतः उपेक्षणीय ज्ञेय है। आस्रव एवं बंध तत्त्व तो हेय ही हैं, उन ही के विशेष भेद पुण्य, पाप भी हेयतत्त्व के ही अवयव होने से हेय ही हैं। उनमें पुण्यतत्त्व को आगम में कहीं-कहीं किसी अपेक्षा से कथंचित् उपादेय भी कहा है, उसकी चर्चा निश्चय-व्यवहारनय के प्रकरण में अलग से करेंगे। यहाँ तो सभी प्रकार की विकारी पर्यायें अर्थात् आस्रव-बंध को हेयतत्त्व में ही लिया गया है। संवर एवं निर्जरा पर्याय एकदेश उपादेय हैं तथा मोक्ष पर्याय सर्वथा उपादेय है। इसप्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्वों को भलीप्रकार समझकर, विश्वास करना चाहिए। एक मात्र जीवतत्त्व में ही अपनापन स्थापन कर अर्थात् वह जीवतत्त्व मैं ही हूँ, ऐसा अहंपना स्थापन करना चाहिए। तथा अन्य जितने भी जीवतत्त्व के अतिरिक्त हैं, उनको पर मानकर उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि पूर्वक साम्यभाव प्रवर्तन करना कर्तव्य है। अपने अन्दर उठने वाले हेय भावों का, अपने जीवतत्त्व के आश्रयपूर्वक अभाव कर, उपादेय तत्त्वों में क्रमशः वृद्धि प्राप्त करके, सर्वथा उपादेय अवस्था की प्राप्ति द्वारा अनन्त सुखी होकर अमर हो जाना चाहिए। यही हेय-ज्ञेय-उपादेय के माध्यम से सात तत्त्वों की यथार्थ समझ का फल है।

३. स्वज्ञेय परज्ञेय के भेद से सात तत्त्व

सामान्यतया समस्त ज्ञेय पदार्थों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्वज्ञेय, परज्ञेय का वर्गीकरण किया जाता है। पहला दृष्टिकोण तो छह द्रव्यों के समूह रूप लोक में से सभी द्रव्यों से भिन्न, अपने अस्तित्व को छांटने के लिये निर्णय किया जाता है। इस अपेक्षा से समस्त विकारी-निर्विकारी पर्यायों सहित अनन्त गुण का समूह रूप अपना स्वद्रव्य, स्वज्ञेय

माना जाता है। यह प्रमाण ज्ञान का विषय होता है, जिसको भेदज्ञान की प्रणाली में प्रमाण का द्रव्य कहा जाता है। इस अपेक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि आत्मा अपने जीव द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में जैसे स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद आदि दूरवर्ती एवं शरीर, कर्म आदि निकटवर्ती सभी द्रव्यों में, अनादि से अपना अस्तित्व मानता चला आ रहा था; ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता के द्वारा इनके परिवर्तनों को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करने में जीवन लगाता चला आ रहा था; उन सभी को, आत्मा से अन्य तथा मात्र परज्ञेय मान लेने के फलस्वरूप उनके परिणमनों के प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होकर तत्संबंधित अशांति से बच जाता है अर्थात् आत्मोपलब्धि योग्य पात्रता प्रगट कर लेता है। संक्षेप में कहें तो इसप्रकार का भेदज्ञान प्राप्तकर यह जीव प्रमाणरूप द्रव्यों से संबंध तोड़कर मात्र स्वद्रव्य में ही अपने-आपको मर्यादित कर लेता है। प्रमाणरूप द्रव्यों से भेदज्ञान किए बिना कभी किसी को अपने विकारी-निर्विकारी पर्यायों से भेदज्ञान उत्पन्न करना असंभव है। इस अपेक्षा में इसप्रकार प्रमाणरूप स्वद्रव्य तो स्वज्ञेय है और बाकी अन्य सभी परज्ञेय होने से, अत्यन्त उपेक्षा करने योग्य हैं, ऐसी मान्यता-विश्वास-श्रद्धा उत्पन्न करना ही इस अपेक्षा का उद्देश्य है।

दूसरा दृष्टिकोण है, विकारी-निर्विकारी पर्यायों के बीच छुपा हुआ जो सदा शाश्वत एकरूप रहनेवाला स्थाई ज्ञायकभाव है, उसको पहिचानकर उसमें अहंपना "मैंपना" स्थापित करना। इस अपेक्षा में स्थाई एकरूप रहने वाले ज्ञायकतत्त्व को स्वज्ञेय कहकर इसके प्रति प्रेम व आकर्षण उत्पन्न कराना है। उस स्थायी ध्रुव ज्ञायकभाव के अतिरिक्त, जो कुछ भी स्वद्रव्य के ही गुण व पर्यायों का समस्त परिकर है, उसको पर बनाकर परज्ञेय कहकर उन सबके प्रति आकर्षण, प्रेम तथा अपनेपन का अभिप्राय छुड़ाना है तथा उनके रक्षण आदि की चिन्ताओं से मुक्त कराकर आत्मा को अकर्ताज्ञायक स्वभावी निर्णय कराकर, निर्भार कराने का प्रयास किया गया है। इस दशा को प्राप्त जीव को ही आत्मोपलब्धि

पूर्वक सम्यग्दर्शन का उदय होकर, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति प्रगट होती है और मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है। यह दृष्टिकोण ही अध्यात्म का प्राण है। इस दृष्टिकोण को अपनाये बिना किसी को मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं होता। इस अपेक्षा में जिस त्रिकाली ज्ञायकध्रुवभाव को, स्वज्ञेय मानकर उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर अपने ज्ञान (उपयोग) को स्वज्ञेय के सन्मुख करने की प्रेरणा दी गई है, उसकी उपलब्धि द्रव्यदृष्टि के द्वारा ही होती है। क्योंकि वह ज्ञायकभाव द्रव्यार्थिकनय का विषय है। प्रमाण वाला द्रव्य जिसको पहली अपेक्षा में स्वज्ञेय कहा गया था, इस अपेक्षा में वह भी पर की श्रेणी में आ जाता है; अतः वह भी एवं अन्य समस्त परिकर जिनमें अभी तक अहंपना, अपनापन मानकर दुःखी होता चला आ रहा था, उन सबके प्रति आकर्षण समाप्त कराया गया है तथा अपने ज्ञान (उपयोग) की उनकी सन्मुखता छुड़ाकर, उसी ज्ञान को आत्मसन्मुख कराया गया है। परज्ञेय मात्र को पर्यायार्थिकनय का विषय कहा जाता है और वे सब उपेक्षणीय ही रहते हैं।

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय का स्वरूप एवं उसके ज्ञान की आत्मोपलब्धि में उपयोगिता, आदि के बारे में आगे चर्चा करेंगे।

उपरोक्त समस्त चर्चा एकमात्र श्रद्धा अर्थात् मान्यता सही करने की अपेक्षा से की गयी है। अभी तक यह जीव अपने ही स्वयं के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण, जो अपने नहीं हैं तथा कभी भी अपने नहीं हो सकते, उनको अपना मानकर उन्हीं के रक्षण, पोषण आदि में अनेक जीवन बिताता चला आ रहा है। उसको श्री गुरु सच्चा मार्ग दिखाकर इसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। अब तक जिनको अपना मानता था, उन सबके प्रति परपने की श्रद्धा कराकर इसकी मिथ्या मान्यता बदलकर, सच्ची मान्यता, विश्वास, श्रद्धा उत्पन्न कराते हैं। अभी तक "जिनको अपना मानता चला आ रहा था वे तेरे नहीं है और ज्ञायक भाव स्वज्ञेय मात्र ही एक तू है" ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराई गई है। इस ही सच्ची

मान्यता को सम्यग्दर्शन, सम्यग्श्रद्धा आदि अनेक नामों से जिनवाणी में सम्बोधित किया गया है।

सारांश यह है कि उपरोक्त समस्त कथन श्रद्धाप्रधान है, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ८० पर कहा भी है कि —

"यहाँ वर्णन तो श्रद्धान का करना है, परन्तु जानेगा तो श्रद्धान करेगा, इसलिए जानने की मुख्यता से वर्णन करते हैं।"

सम्यक् श्रद्धा के साथ सम्यक् चारित्र का अविनाभावी संबंध

यथार्थ श्रद्धा हो जाने पर आचरण भी तदनुसार हुए बिना रह ही नहीं सकता। जैसे हमने किसी व्यक्ति को अभी तक हमारा मित्र मान रखा था, लेकिन यथार्थ में वह मित्र नहीं वरन् शत्रु का मित्र था। उसके कारण उत्पन्न की गई अनेक-अनेक विपत्तियों को मैं सहज रूप से सहन करता चला आ रहा था। अवसर पाकर मेरे परम हितैषी व्यक्ति ने अनेक प्रकार के प्रमाणों से समस्त षडयंत्र का भंडाफोड़ कर दिया तथा मेरे को सिद्ध करके बता दिया कि यह व्यक्ति तेरा मित्र नहीं, तेरे शत्रु का मित्र है। उसके कारण ही तेरे को अनेक विपत्तियाँ सहन करनी पड़ी हैं। जब मेरे को यह विश्वास जम जावे कि "सचमुच यह व्यक्ति मेरा मित्र नहीं वरन् शत्रु ही है", उसके बाद उसके साथ संबंध तोड़ने के लिए क्या मुझे किसी से शिक्षा लेनी पड़ेगी? उस व्यक्ति के साथ जो भी मेरा व्यवहार था वह परिवर्तित हुये बिना रह ही नहीं सकता। सहज रूप से बदल जावेगा।

इसीप्रकार आत्मार्थी जीव को परम उपकारी श्रीगुरु के उपदेश आदि द्वारा जब यह विश्वास जम जाता है कि अभी तक मैंने, अपने को ही स्व मानना भूलकर, जो अपने कभी नहीं थे और न अपने कभी हो भी सकते हैं; उनको अपना मानकर, उन्हीं के रक्षण पोषण आदि में लगा रहता आया हूँ, इस ही कारण अनादि काल से दुःखी होता चला आ रहा हूँ। लेकिन

अब समझ में आने के बाद यह विश्वास जम गया कि मैं तो सबसे भिन्न एकमात्र अत्यन्त निर्भार अकर्तास्वभावी, आनन्दस्वरूपी, त्रिकाल एकरूप रहनेवाला ज्ञायक आत्मा हूँ, अन्य जितने भी मेरे ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं वे सब मेरे से भिन्न परज्ञेय के रूप में ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं, तो भी मेरे साथ उनका मात्र उपेक्षणीय ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है। उसके विपरीत मेरा संबंध तो, मेरे ज्ञायकभाव के साथ तन्मयतापूर्वक जाननेरूप ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है। ऐसा विश्वास अर्थात् श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर उस आत्मार्थी का उन उपेक्षणीय समस्त पररूप परिकर के साथ कैसा व्यवहार रहेगा यह किसी को पूंछना नहीं पड़ेगा बल्कि उन सबके साथ अंतरंग में उपेक्षारूप, हेयरूप आचरण हुये बिना रह ही नहीं सकता। ऐसे भावों का होना ही यथार्थ में सच्चा व्यवहार चारित्र है। साथ ही बाह्य आचरण भी सहज रूप से तद्नुकूल होने लगता है, इसी को भी जिनवाणी में व्यवहार संज्ञा प्राप्त है। इन सबका कथन चरणानुयोग के ग्रन्थों में संग्रहीत है। इस प्रक्रिया को ही निश्चयचारित्र के साथ वर्तनेवाले शुभभाव एवं तद्नुकूल बाह्य आचरण को व्यवहारचारित्र के नाम से कथन किया गया है।

आचार्य माणक्यनन्दि ने परीक्षामुख पंचम परिच्छेद के सूत्र १ में कहा है —

"सम्यग्ज्ञानरूपी प्रमाण का फल तत्संबंधी अज्ञान के नाश के साथ-साथ जानी हुई हेय, उपादेय एवं ज्ञेय वस्तु के संदर्भ में क्रमशः त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा (माध्यस्थभाव, उदासीनभाव) है।"

उपरोक्त समस्त कथन से स्पष्ट है कि सात तत्त्वों की यथार्थ समझ प्राप्त किए बिना, अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। उसकी समझ के बिना, तथा पर्याय की यथार्थ स्थिति समझे बिना, अपनी वर्तमान दशा का अभाव कर, पूर्णदशा प्राप्त करने का मार्ग भी निर्णय में नहीं आ सकता। यथार्थ मार्ग का निर्णय हुये बिना, उसपर आचरण तो हो ही कैसे सकता है? अतः उपरोक्त प्रकार से यथार्थ समझ

प्राप्त कर, अपने त्रिकाली ज्ञायक भावरूपी स्वज्ञेय में अपनापन स्थापित कर, समस्त परज्ञेयों के प्रति परपना दृढ़ करना चाहिये तथा अपनी आत्म परिणति की परसन्मुखता हटाकर, स्वसन्मुख करने का महान पुरुषार्थ प्रगट करना चाहिये। ऐसी दशा प्राप्त जीव का ज्ञान सम्यक् होकर, उसको यथार्थ भेदज्ञान का उदय होता है और उस के द्वारा वह पर्याय में वर्तती अवस्थाओं में हेय, उपादेय बुद्धिपूर्वक विकार का अभाव करता-करता निर्विकारी दशा प्राप्त कर लेता है। यही आत्मोपलब्धि में तत्त्वार्थ श्रद्धान की महान उपयोगिता है।

पर्याय उपेक्षणीय कहने से स्वच्छन्दता की सम्भावना का निराकरण

अपनी आत्मा को संक्षेप से समझा जावे तो एक ओर तो अनन्त गुणों का समुदाय, त्रिकाल एक रूप रहने वाला, सिद्ध सदृश स्वभाववाला, शास्त्रीय भाषा में परमपारिणामिक भावरूप "द्रव्यांश" है। दूसरी ओर क्षण-क्षण में उत्पाद, व्यय को प्राप्त, अनेक प्रकार से बदलता हुआ "पर्यायांश" है। इन दोनों अंशों को मिलाकर मेरा पूरा आत्मा है। इन दोनों में से अपनापन स्थापन करने के लिये, कौन से अंश को अपना मानूं? क्षण-क्षण में नये-नये रूप धारण करता हुआ समय-समय जन्म-मरण करने वाला पर्यायांश, वह तो अहंपना स्थापन करने योग्य कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। ध्रुव एकरूप रहने वाला द्रव्यांश है, वही एकमात्र अहंपना अर्थात् "मैं" मानने योग्य है ऐसा मानने से आन्तरिक प्रेम मेरा सहज ही उस ही में उमड़ेगा। उस से तन्मय होने की वृत्ति उठे बिना रह ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में पर्यायांश श्रद्धा में सहज ही उपेक्षणीय हो जावेगा, क्योंकि श्रद्धा तो एक में ही मैं पना स्थापित करती है। इसप्रकार आत्मानुभव प्राप्त ज्ञानी जीव की श्रद्धा में तो मात्र एक परम पारिणामिक भावरूप स्थाई द्रव्यांश ही हमेशा मुख्य एवं अपेक्षा करने योग्य रहता है। पर्यायांश हमेशा उपेक्षणीय एवं गौण ही रहता है। यह

सब कथन श्रद्धा की मुख्यता से है। श्रद्धा ने जिसमें अहंपना स्थापित किया है ऐसे द्रव्यांश के साथ ही रहने वाला सम्यक्ज्ञान भी द्रव्यांश को ही परम उपादेयरूप जानता है। श्रद्धा ने जिसमें परपना स्थापित कर जिससे प्रेम करना छोड़ दिया है, ऐसे पर्यायांश को उपेक्षित रूप से जानता हुआ ज्ञान भी प्रवर्तता है। उसी समय चारित्रगुण भी, श्रद्धा ज्ञान ने जिसको स्व-अपना माना है उस ही मैं आचरण अर्थात् लीन होने की चेष्टा करने लगता है। पूर्व की अज्ञानदशा की श्रद्धा ने पर्यायांश में अपनापना मान रखा था, तब उसमें ही आचरण करने की चेष्टा करता था और असफल होकर दुखी होता था।

सारांश यह है कि जब तक पर्याय में पूर्ण निर्विकारी दशा प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक आत्मार्थी का सम्यग्ज्ञान, वीतरागी अंश में उपादेय बुद्धि तथा रागांश में हेयबुद्धि सहित प्रवर्तता रहता है। अतः ऐसे ज्ञानी आत्मार्थी को कभी स्वच्छन्दता होने का अवकाश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी का ज्ञान इतना विवेकपूर्ण हो गया है कि वह रागांश मात्र को ही जहर के समान मानते हुए पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है। ऐसे ज्ञानी को भोगों के प्रति, पर्याय में होने वाले विकल्पों में स्वच्छन्दता उत्पन्न करने वाला प्रेम उत्पन्न हो, यह असम्भव है। यथार्थ में ऐसे जीव को ही पर्याय उपेक्षणीय होती है।

पण्डित वनारसीदासजी ने समयसार नाटक के निर्जरा द्वार में कहा है —

ज्ञानकला जिनके घट जागी। ते जगमांहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषय सुख माहीं, यह विपरीत संभवै नाहीं॥ ४१॥

लेकिन कोई अज्ञानी जो राग में रुचि रखता हो वह उपरोक्त कथनों को, अपने रागपोषण के लिए हथियार बनाकर दुरुपयोग करे तो यह तो उस जीव का ही महान दोष है, कथन का तो कोई दोष है नहीं।

पण्डित टोडरमलजी साहब ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृष्ठ २९२ पर कहा भी है कि —

"जैसे गधा मिश्री खाकर मर जावे तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे। उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जाये तो विवेकी तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। इतना करें कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिसप्रकार वह स्वच्छन्द न हो उसप्रकार उपदेश दे तथा अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं। इसलिये जो भलीभाँति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नहीं, परन्तु एक बार सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, उस जीव ही का दोष है।"

आगे कहते हैं कि —

"तथा अध्यात्म ग्रन्थों में कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं करना।"

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान की उपयोगिता को भलीप्रकार समझना चाहिए। इन तत्त्वों का यथार्थ भाव समझने में यह जीव अनेक प्रकार की भूलें करता है, उसके कारण उसकी अनादि से चली आ रही मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के निम्न पृष्ठों पर तत्त्वार्थश्रद्धान संबंधी भूलों को निकालने के लिए छह प्रकार से विशद् विवेचन किया है।

पृष्ठ क्रमांक निम्नानुसार है —

(१) पृष्ठ ७८ से ७९ तक (२) ८० से ८४ तक (३) २२४ से २३३ तक (४) ३१५ से ३१७ तक, (५) ३१८ से ३१९ तक (६) ३२० से ३२२ तक।

आत्मार्थी जीव को उपर्युक्त सब कथनों को मनोयोगपूर्वक पढ़कर, अपने में जिसप्रकार की भूल हो, वह निकालकर यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

निश्चय कथन पद्धति एवं व्यवहार कथन पद्धति का अन्तर

जिनवाणी में कथन कहीं तो निश्चय की मुख्यतापूर्वक किये गये होते हैं और कहीं व्यवहार की प्रधानतापूर्वक किये गये होते हैं। लेकिन उनका उद्देश्य तो एकमात्र वीतरागता के उत्पादन का ही होता है। इसलिए जिनवाणी के अध्ययनकर्ता को दोनों प्रकार की कथन पद्धतियों के तात्पर्य को समझने योग्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए। निश्चय की प्रधानता वाले कथन को व्यवहार का कथन मान लिया जावे अथवा व्यवहार की मुख्यता वाले कथन को निश्चय का कथन मान लिया जावे तो, विपरीतता होने से, वह आत्मा के अकल्याण का कारण बन जावेगा। अतः दोनों पद्धतियों के कथनों का अभिप्राय समझने में अत्यन्त सावधानी आवश्यक है।

निश्चय अर्थात् यथार्थ, व्यवहार अर्थात् जिस द्रव्य में जो कार्य हुआ हो, उस कार्य को उस द्रव्य का ही कहना तथा मानना वह निश्चय है। क्योंकि उस कार्यरूप पर्याय की व्याप्य-व्यापकता उस द्रव्य के साथ ही है, अतः वह द्रव्य ही उस कार्य का वास्तविक कर्ता है। ऐसा कथन ही निश्चय अर्थात् यथार्थ कथन है। इसप्रकार की वास्तविकता को सिद्ध करने वाली पद्धति को निश्चय कथन पद्धति समझना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार की स्थिति होने पर भी, दूसरे अन्य द्रव्य का परिणमन जिसका व्याप्य-व्यापकता अपने स्वयं के द्रव्य के साथ है और उपरोक्त कार्य के साथ व्याप्य-व्यापकता का अभाव है, ऐसा होने पर भी उपरोक्त कार्य पर्याय का कर्ता अन्य द्रव्य को कहना, वह व्यवहार कथन अर्थात् उपचार से किया गया कथन है। ऐसी अवास्तविक स्थिति को कहने वाली कथन पद्धति ही, व्यवहार कथन पद्धति है।

इस व्यवहार कथन पद्धति से किये गये कथनों से कार्य का उत्पादन करने वाले द्रव्य को, उसका उत्पादक नहीं मानकर, अन्य द्रव्य को उत्पादक मानने लगे तो ऐसी मान्यता मिथ्या मान्यता है, अतः ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि अज्ञानी ही रहता है। इससे विपरीत ज्ञानी सम्यग्दृष्टि तो ऐसे कथनों से भ्रमित नहीं होता। उसको निश्चय कथन पद्धति एवं व्यवहार

कथन पद्धति के अन्तर का समीचीन ज्ञान होता है। व्यवहार से किये गये कथनों को उपचार कथन मानकर, उत्पादन करने वाले द्रव्य को ही उसका कर्ता मानता है; अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले कार्य अर्थात् विकारी भावों का कर्ता अपने आप को मानता है, जो करने वाला होता है फल भी उसे ही भोगना पड़ता है। लोक में भी यह सिद्धान्त सर्वविदित है कि जो करता है, फल भी उसी को भोगना पड़ता है तथा जो अपराध करता हो तो सच्ची समझ आने पर, अपराध करना भी वही छोड़ेगा। तात्पर्य यह है कि विकार आत्मा ने किया तो विकार का फल जो आकुलता, उसका वेदन भी आत्मा ही भोगता है, तथा भविष्य में भी उसको ऐसे ही संयोग प्राप्त होंगे, जिनके मिलने पर उसको आकुलता ही भोगनी पड़ेगी। ऐसे संयोग प्राप्त कराने के निमित्त तदनुकूल कर्मों का बंध भी होता है। इसीप्रकार यथार्थ मार्ग समझकर, विकार का अभाव भी आत्मा ही कर सकता है।

प्रश्न :— विकार का अभाव कैसे किया जावे?

समाधान :— जो विकार का उत्पाद करता है, वही उत्पादन करना बंद कर देवे तो विकार उत्पन्न ही नहीं होगा, यही वास्तव में रागादि का अभाव है। आत्मा ही रागादि विकारी भावों का उत्पादन करने वाला है, तो उत्पादन करना वह ही छोड़ देवे। सिद्धान्त है कि जो अपराध करता है उसका दण्ड भी वही भोगता है, अगर वह अपराध नहीं करेगा तो उसको दण्ड भी क्यों भोगना पड़ेगा।

उपरोक्त समस्त चर्चा से स्पष्ट है कि जो द्रव्य जिस कार्य का करने वाला है उसका कर्ता उसी को बताना, यह ही वास्तविक अर्थात् निश्चय कथन है। ऐसा सिद्ध करने वाली कथन शैली को ही निश्चय कथन पद्धति बताया है।

प्रश्न :— इसीप्रकार व्यवहार कथन पद्धति को भी समझाईये?

समाधान :— जब कार्य का वास्तविक उत्पादक द्रव्य, कार्य कर रहा हो, उसी समय अन्य द्रव्य जो अपने आपमें अपने कार्य का व्याप्य-

व्यापक होकर उत्पादन कर रहा है और पूर्ववर्ती कार्य के उत्पादन में उसका कोई योगदान नहीं है फिर भी पूर्ववर्ती कार्य का कर्ता उस द्रव्य को बताना अर्थात् कहना, ऐसा कथन व्यवहार कथन है। क्योंकि पूर्ववर्ती कार्य का वास्तव में कर्ता नहीं होते हुए भी, उसको कर्ता कहना यथार्थ नहीं है। अन्य द्रव्य का उपचार करके उसका कर्ता कह दिया जाता है। जैसे जिस समय आत्माराम को क्रोध हुआ, उसी समय कर्मचन्द्र को गाली आदि मर्मभेदी शब्दों के बोलने का भाव हुआ एवं उच्चारण भी हुआ, दोनों के द्रव्य भिन्न-भिन्न होने से दोनों अपने-अपने कार्य (पर्याय) के करने वाले हैं। क्रोध का वास्तविक करने वाला तो आत्माराम ही है और दुर्वचन-गाली आदि का बोलने का भाव करने वाला कर्मचन्द्र है, साथ ही गालीरूपी शब्द वर्गणाओं को करने वाला तो पुद्गल द्रव्य है। तीनों द्रव्यों ने अपनी-अपनी पर्यायों का उत्पादन किया है, इसलिए उनके वास्तविक कर्ता तो उन-उनके द्रव्य हैं, लेकिन सबका उत्पादन काल एक ही है अर्थात् एक ही समय एक साथ तीनों का उत्पादन हुआ है ऐसी स्थिति में स्थूलदृष्टि, संयोगीदृष्टि, बहिर्दृष्टि से देखने वाले को तो वह कार्य एक ही दिखता है, न तो तीन कार्य ही दिखते हैं और न उनके करने वाले तीन दिखते हैं लेकिन जो वास्तविक दृष्टि से देखता है तो उसको तो क्रोध का करने वाला आत्माराम ही दिखता है, न तो कर्मचन्द्र और न वे गाली रूपी शब्द दिखते हैं। लेकिन संयोग की दृष्टि से देखने वाले को तो करने वाले कर्मचन्द्र तथा गाली रूपी शब्द दिखने लगते हैं। इसप्रकार के कथन लोक में प्रचलित हैं। इसलिए वास्तविक स्वरूप समझकर भ्रमित नहीं होने के लिए ही जिनवाणी में ऐसे कथनों को व्यवहार कथन कहा है। ऐसा कथन वास्तविक मानने योग्य नहीं हैं, वास्तविक कर्ता तो क्रोध के करने वाला ही है।

द्रव्यकर्म, भावकर्म की मुख्यता से सात तत्त्वों का ज्ञान

जिनवाणी में व्यवहार की मुख्यता से, निमित्त प्रधान कथन में सात तत्त्वों का स्वरूप इसप्रकार भी बताया गया है कि जीवतत्त्व तो यह जीव

स्वयं है ही। अजीवतत्त्व में बाकी के पांचों द्रव्य आ जाते हैं। द्रव्यकर्मों का आत्मा से संबंध करने के लिये आत्मा में आना आस्रवतत्त्व बताया गया है। उसीप्रकार उन द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ एक-क्षेत्रावगाह रूप में बंध जाना, उसको बंधतत्त्व कहा गया है। उन कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना रुकजाना, संवर तत्त्व कहा है एवं बंधे हुए कर्मों का आत्मा से संबंध छूटना, निर्जरा तत्त्व कहा गया है। सभी प्रकार के द्रव्य कर्मों का आत्मा से पूर्णरूप से संबंध छूट जाना ही मोक्षतत्त्व है। इस प्रकार के कथन व्यवहार प्रधान निमित्त की मुख्यता से कथन जिनवाणी में आते हैं। अत: दोनों कथनों का आपस में क्या संबंध है वह समझना अत्यन्त आवश्यक है।

उपरोक्त दोनों प्रकार की परिभाषाएं जिनवाणी में ही आती हैं एवं परस्पर विरोधी सी दिखती हैं लेकिन वे किंचित् भी विरोधी नहीं हैं। दोनों ही परिभाषाएं एक ही उद्देश्य को सिद्ध करती हैं। जैसे पहली बताई गई परिभाषा में आत्मा के अन्दर विकारी भावों की उत्पत्ति को आस्रवतत्त्व कहा है और उपर्युक्त परिभाषा में आत्मा, जब विकारी भाव उत्पन्न करता है, तब उन भावों को निमित्त करके कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ संबंध करने के लिये आना होता है, उसको आस्रवतत्त्व कहा गया है। इसी प्रकार पहली परिभाषा में आत्मा के विकारी भावों की उत्पत्ति नहीं होना उसको संवर तत्त्व कहा है। दूसरी परिभाषा में जब आत्मा विकारी भाव नहीं करता तब सहज ही कर्मों के आने का रुक जाना उसको संवर तत्त्व कहा गया है। इसीप्रकार बंध, निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व के संबंध में भी समझ लेना। इस विषय पर गंभीरता से चिन्तन व विचार करें तो बहुत सरलता से समझ में आ सकता है कि कर्मों के आने में मूलंकारण तो आत्मा की भूल ही थी। अत: आत्मा को कर्मों का आना रोकने के लिये अपने विकारी भाव करने की भूल छोड़ देना चाहिये, ताकि उसको आत्मानन्द का शीघ्र ही लाभ प्राप्त हो सके। इसप्रकार आचार्यों द्वारा दोनों प्रकार की परिभाषाओं के द्वारा एक ही प्रयोजन सिद्ध किया है।

इस विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये जिनवाणी में इन तत्त्वों को द्रव्यकर्म व भावकर्म के भेद से स्पष्ट किया है — द्रव्यास्रव तथा भावास्रव, द्रव्यसंवर तथा भावसंवर एवं भावमोक्ष तथा द्रव्यमोक्ष इसी प्रकार द्रव्यबंध अथवा भावबंध उसी भावबंध को, पुण्यबंध अथवा पापबंध आदि भेदों के माध्यम से दोनों परिभाषाओं के विषय को समझाया है। आत्मा के भावों में अर्थात् पर्याय में होने वाले विकारी, निर्विकारी दशा के ज्ञान को ही भाव के नाम से कहा है। जैसे भावआस्रव, भावबंध, भावसंवर, भावनिर्जरा एवं भाव मोक्ष इसीप्रकार इन भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ संबंध करने के लिये आना, बंधना एवं आना रुकना, तथा बंधे हुये का आंशिक छूटना तथा सर्वथा छूटना, इनको क्रमशः द्रव्यआस्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष के रूप में कहा गया है। इनमें से भावतत्त्व तो जीवद्रव्य में होते हैं और द्रव्यतत्त्व पुद्गलद्रव्य में होते हैं। कोई अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि द्रव्यकर्म के कारण से आत्मा में विकारी पर्याय भाव हो जाते हैं तो यह मान्यता सर्वथा विपरीत है। इस विषय को गंभीरता से समझने के लिये इसी पुस्तक के प्रथम भाग का अथवा लेखक की छोटी सी पुस्तिका वस्तुस्वातन्त्र्य का अध्ययन करना चाहिये। भावकर्म का निमित्तपना कैसे है इस पर चर्चा आगे करेंगे। आगम में आत्मा के भावों को "भावकर्म" एवं कर्मपुद्गलों के परिणमन को "द्रव्यकर्म" के नाम से समझाया गया है। इसलिये आगे हम भी इनको उपरोक्त "भावकर्म" एवं "द्रव्यकर्म" के नाम से ही समझेंगे।

श्रद्धाप्रधानता एवं ज्ञानप्रधानता से सात तत्त्वों की समझ

उपरोक्त सात तत्त्वों को श्रद्धा की प्रधानता एवं ज्ञान की प्रधानता से अलग-अलग करके समझना चाहिए। श्रद्धा प्रधानता अर्थात् अपनापन-अहंपना स्थापन करने की मुख्यता से समझना अर्थात् अपना अस्तित्व

उस रूप ही मानना। ज्ञानप्रधान अर्थात् जानने की मुख्यता अर्थात् अभाव करने योग्य कौन हैं तथा उत्पादन करने योग्य कौन हैं, इस निर्णय करने के लिए समझना।

श्रद्धाप्रधानता में तो शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परम पारिणामिक त्रिकाली ज्ञायकभाव, जिसको ऊपर जीवतत्त्व, स्वज्ञेयतत्त्व आदि नामों से कहा गया है , वह मात्र एक ही स्वपना स्थापित करने योग्य अर्थात् स्व मानने योग्य है। वहं ही श्रद्धा का श्रद्धेय एवम् अहंरूप से अनुभव में आने वाला स्वतत्त्व है। इसके अतिरिक्त मेरे स्वयं के अंदर ही उत्पन्न होने वाली मेरी स्वयं की विकारी निर्विकारी पर्यायें हैं वे सभी मेरे स्वजीवतत्त्व की अपेक्षा परतत्त्व हैं। इस परतत्त्व में आस्रव एवं बंधतत्त्व के नाम से सभी विकारी पर्यायों का एवं संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व के नाम से सभी निर्विकारी पर्यायों का समावेश हो जाता है। अजीवतत्त्व एवं मेरे अतिरिक्त सभी जीवमात्र तो प्रत्यक्ष पर हैं ही। इसप्रकार अहंपना स्थापित करने की अपेक्षा तो मात्र एक परमपारिणामिक भावरूप ज्ञायक भाव ही श्रद्धा का श्रद्धेय ऐसा जीवतत्त्व है; बाकी अजीवतत्त्व तथा भाव आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व सभी पर हैं अर्थात् मेरे में उनका अस्तित्व नहीं है। द्रव्यकर्म तो सभी अजीवद्रव्य होने से उनका तो मेरे में अस्तित्व है ही नहीं अत: वे तो पर हैं ही। इसप्रकार एक जीवतत्त्व के अतिरिक्त सभी पर हैं। उपरोक्त सात तत्त्वों में से श्रद्धा की प्रधानता से बताया गया जीवतत्त्व तो सर्वोत्कृष्ट होने से आश्रय करने योग्य तथा स्वपने की श्रद्धा करने योग्य है ।

ज्ञान की प्रधानता में सातों तत्त्व ही ज्ञेयतत्त्व तो हैं ही, लेकिन ज्ञानी का ज्ञान जानते समय ही परम पारिणामिक भावरूप ज्ञायक तत्त्व को तो स्वज्ञेय तत्त्व के रूप में एवं बाकी रहे छहों तत्त्वों अर्थात् भाव तत्त्वों को परज्ञेय के रूप में जानता है; अत: स्व और पर के विभागीकरणपूर्वक दोनों

के स्वरूप को समझना, ज्ञान प्रधानता की समझ है। इसके साथ ही ज्ञान, जानते समय ही सातों तत्त्वों को हेय-उपादेय के विभागीकरणपूर्वक भी जानता है, सातों तत्त्वों में से स्वज्ञेय तत्त्व तो अहं तरीके ही अपने आपको जानता है एवं संवर एवं निर्जरा भावों को उपादेयरूप जानता है तथा मोक्षतत्त्व तो प्राप्तव्य परम उपादेयरूप में जानता है। इसप्रकार से जानने का फल ही होता है कि ज्ञानी आत्मार्थी का हेय तत्त्वों का अभाव करने का एवं उपादेय तत्त्वों में बृद्धि करने का पुरुषार्थ सहज रूप से क्रमशः निरन्तर चलता ही रहता है।

परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद के सूत्र-१ में हेय-उपादेय के संबंध में निम्नप्रकार कहा है कि —

"अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्"

अर्थ :— "प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का फल अज्ञान निवृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है।"

डा. हुकमचंद भारिल्ल ने परमभावप्रकाशक नयचक्र पृ. २११ पर इसके स्पष्टीकरण में लिखा है कि —

"यहाँ पर सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का फल तत्संबंधी अज्ञान के नाश के साथ जानी हुई हेय, उपादेय एवं ज्ञेय वस्तु के सन्दर्भ में क्रमशः त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा (माध्यस्थभाव, उदासीनभाव) बताया गया है।"

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि हेयतत्त्व छोड़ने योग्य अर्थात् अभाव करने योग्य एवं उपादेय तत्त्वों को ग्रहण करने अर्थात् प्राप्त करने योग्य मानना चाहिये। अन्य जीव एवं समस्त अजीव ज्ञेय तत्त्वों को उपेक्षणीय स्वीकार कर, उनके प्रति अपनत्वबुद्धि अहंबुद्धि त्याग देनी चाहिये। ऐसा स्वीकार कर एकमात्र स्वतत्त्व में ही अपनत्व मानकर समस्त ज्ञेयों के प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत कर, हेय का त्याग, उपादेय के ग्रहण का पुरुषार्थ ही एकमात्र कर्तव्य है।

विशेष जानने योग्य बात यह भी है कि आस्रव बंध तत्व के विशेष भेदरूप पुण्यतत्त्व एवं पापतत्त्व मिलाकर नौ तत्त्व, नौ पदार्थ भी कहे गये

हैं। अत: ये दोनों हेयतत्त्व के ही विशेष भेद होने से यथार्थ में तो अभाव करने योग्य ही हैं। लेकिन मोक्षमार्ग प्राप्त जीव (सम्यग्दृष्टि जीव) को पुण्यतत्त्व मोक्षमार्ग का सहचारी व निमित्त देखकर कभी-कभी कहीं-कहीं उसको कथंचित् उपादेय भी कहा गया है, क्योंकि जिस पुण्यभाव (शुभ भाव) के रहते हुये मोक्षमार्ग को बाधा नहीं पहुंचती तथा सम्यग्दर्शन होने के पूर्व भी ऐसे भाव रहते हैं अत: उनको निमित्त भी कहा जाता है। लेकिन ऐसा शुभभाव जो जीव के मोक्षमार्ग में हानिकारक (बाधक) हो, उसको निमित्त अथवा सहकारी भी नहीं कहा जाता वह तो हेय ही है। तथापि पुण्यतत्त्व भी आस्रवरूपी हेयतत्त्व का ही विशेष होने से यथार्थतया तो मोक्षमार्गी को बाधक ही है। लेकिन यथा पदवी मोक्षमार्ग के साथ रहते हुए वह मोक्षमार्ग का घात नहीं करता, इस अपेक्षा शुभभाव को हेय नहीं कहकर कथंचित् उपादेय भी कह दिया जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव को भी पुण्यभाव अर्थात् कषाय की मंदता का भाव मंद आकुलता उत्पादक होने से तथा सुगति का कारण होने से पापभाव की अपेक्षा पुण्यभाव को कथंचित् उपादेय भी कहा जाता है। लेकिन पापभाव तो सर्वथा एवं सर्वदा ही कषाय की तीव्रता होने से अत्यन्त हेय है। यही कारण है कि आस्रव, बंध हेयतत्त्व होने पर भी मंदता तीव्रता के भेद देखकर, तथा कथंचित् किसी जीव को किसी अपेक्षा कभी-कभी इसं हेयतत्त्व में भी कथंचित् उपादेयता का ज्ञान कराने के लिये पुण्य और पाप दो तत्त्व और बढ़ाकर, इन दोनों का समावेश कर, नव तत्त्व के रूप में उनका ज्ञान कराया है। लेकिन श्रद्धा की अपेक्षा तो पुण्यभाव भी ज्ञानी को हेयरूप ही रहता है।

निश्चय के साथ व्यवहार होता ही है

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

"तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र का तात्पर्य यह है कि ऊपर कहे गये अनेक कथनों के माध्यम से अपने त्रिकाली परमपारिणामिकरूप ध्रुव

ज्ञायकभाव में "मैं पना-अहंपने का निर्णय करके, उस ही में अपनी श्रद्धा में भी अहंपना स्थापित एवं आकर्षण उत्पन्न करना चाहिये।" ऐसा होने से बाकी सभी द्रव्य भावों में सहज ही परपना आ जाता है तथा उन सबके प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत हो ही जाता है, फलतः उपयोग भी स्व में एकाग्र होकर आत्मानन्द प्राप्त कर लेगा यही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव का उस समय का ज्ञान स्व को स्व तरीके जानकर, स्व को जमने-रमने योग्य एवं पर को उपेक्षा करने योग्य जानता है। उसी समय का चारित्र गुण भी, जिसको श्रद्धा जो स्व माना जाना है, उसमें ही अपनी परिणति को एकमेक (लीन) करने की चेष्टा करता है तथा जिनको हेय जाना है उनके प्रति आकर्षण छोड़ता हुआ उपेक्षित रहता है। ऐसी स्थिति में अन्य ज्ञेय तो उपेक्षित हो ही जाते हैं। यह ही सहज स्वाभाविक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता है और यह ही सच्चा मोक्षमार्ग है। इसे आचार्य उमास्वामी ने "सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्राणि मोक्षमार्गः" के रूप में कहा है।

उपरोक्त स्थिति प्राप्त जीव की सहज ही संसार, शरीर, भोगों के प्रति आसक्ति घट जाती है। ज्ञान-वैराग्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है तथा चरणानुयोग के अनुसार समस्त आचरणों का स्वाभाविकरूप से परिणमन होने लगता है। इस ही को उपदेश की शैली में "आचरण करना चाहिये" ऐसी भाषा में चरणानुयोग में कथन किया गया है। ऐसे आचरण को जिनवाणी में व्यवहारचारित्र के नाम से भी संबोधित किया जाता है। इसी स्थिति को निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्र का सुमेल कहा गया है। यही सच्चा स्वाभाविक मोक्षमार्ग है और इसी को प्रवचनसार में दोनों की मैत्री भी कहा है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अनिवार्य कैसे ?

प्रश्न :— देव-शास्त्र-गुरु तो परद्रव्य हैं, वे तो परलक्ष्यी ज्ञान के

ही विषय बनते हैं। अतः उनकी ओर लक्ष्य करने से तो आत्मलक्ष्य छूट जाता है और राग की उत्पत्ति होती है। अतः इनकी अनिवार्यता कैसे कही है?

उत्तर :— निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के साथ-साथ ही, ज्ञान स्वलक्ष्यी होकर आत्मदर्शन कर लेता है और तत्समय ही श्रद्धा भी उसमें "मैं पना" स्थापन कर लेती है। लेकिन छद्मस्थ का ज्ञान तो अकेले स्वलक्ष्य में ज्यादा काल रुकता नहीं और परलक्ष्यी हुये बिना रहता नहीं। फिर भी श्रद्धा ने तो जिसको एक बार स्व के रूप में वरण कर लिया, (वरमाला डाल दी) वह फिर उसको छोड़ती नहीं। अतः निश्चय सम्यग्दर्शन बने रहते हुये ज्ञान परलक्ष्यी होकर कार्य करने लगे तो भी श्रद्धा का "मैं पने" की मान्यता रूप परिणमन, तो परलक्ष्यीज्ञान के समय भी वर्तता ही रहता है। फलतः वह परलक्ष्यी ज्ञान के समय भी, पर में एकमेक नहीं होता और अलग-थलग सा रहता हुआ कार्यशील रहता है। इसी कारण ज्ञानी का ऐसा प्रयास रहता है कि परलक्ष्यीज्ञान ज्ञेयों में इसप्रकार नहीं उलझा रहे, जिससे स्वतत्त्व छूट जावे, अतः वह पुरुषार्थपूर्वक भी अपने ज्ञान को अपने स्वतत्त्व के नजदीक रखने के लिये प्रयलशील रहता है। पुनः-पुनः आत्मानन्द का स्वाद लेने की उत्कंठावाला रहता है। सर्वज्ञता एवं वीतरागता प्राप्त करने को उत्सुक वर्तता रहता है। सर्वज्ञ वीतराग दशा को प्राप्त अरहंत, सिद्ध भगवन्तों के प्रति तथा यथार्थ मार्ग बताने वाली जिनवाणी के प्रति एवं उस ही मार्ग में प्रवर्तते हुये आचार्य, उपाध्याय एवं मुनिराजों के प्रति सहज रूप से अत्यन्त विनयवान होकर वर्तता रहता है। साथ ही अपनी भावना के पोषण के लिये, अपने परलक्ष्यी उपयोग को सीमित रखने के प्रयास में निरन्तर वर्तता रहता है। इन्हीं कारणों से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, विनय, भक्ति, पूजन आदि एवं सात तत्त्वों की श्रद्धा, शास्त्र अध्ययन आदि का सम्यग्दर्शन व्यवहार कहा गया है। अगर उपरोक्त कार्य वीतरागता का पोषण नहीं करते हों, तो यथार्थ में वे सब व्यवहार कहलाने योग्य भी नहीं होते।

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप

प्रश्न :— निश्चय-व्यवहार में अन्तर क्या है ?

उत्तर :— निश्चयनय, व्यवहारनय की विस्तृत चर्चा तो आगे नय के प्रकरण में करेंगे। यहाँ तो मात्र संक्षेप में प्रयोजन समझ लेना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के पृष्ठ २४८-२४९ में निश्चयनय एवं व्यवहारनय की परिभाषा दी है —

"मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है, और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार।"

उपचार का लक्षण आलापपद्धति सूत्र २१२ में कहा है कि —

"मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्तोपचारः प्रवर्तते"

अर्थ :— मुख्य के अभाव में प्रयोजन तथा निमित्त के लिये उपचार का प्रवर्तन होता है।

उपरोक्त आगम वाक्यों के आधार पर यह तो स्पष्ट हो गया कि व्यवहार सच्चा मोक्षमार्ग तो नहीं है, लेकिन मात्र उपचार से ही मोक्षमार्ग कहा जाता है। अतः इसकी अनिवार्यता भी उपचार से ही है।

अब हमको समझना यह है कि उपरोक्त कहा गया व्यवहार मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन में निमित्त कैसे है ? सहचारी कैसे है ? उपचार क्या है ? एवं इससे प्रयोजन क्या सिद्ध होता है ?

निश्चय के साथ व्यवहार मोक्षमार्ग का निमित्त सहचारी एवं उपचारपना कैसे ?

सम्यक्त्वसन्मुख जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है; ऐसा कहने का तात्पर्य क्या है इस विषय को दृष्टान्त के माध्यम से समझेंगे। जैसे किसी दरिद्री पुरुष को लक्ष्मीवान

बनने के लिये उसके अळतर में जो-जो प्रक्रिया स्वाभाविक होती हैं, वैसी ही प्रक्रियाएं सम्यक्त्वरहित जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने में होना स्वाभाविक है। सर्वप्रथम वह दरिद्री पुरुष, लक्ष्मी के अभाव में अपने को होनेवाली कठिनाइयों को अनुभव करता है और लक्ष्मीवान को देखकर, लक्ष्मी के द्वारा प्राप्त हुई सुख-सुविधाओं के प्रति लालायित होता है। अपने अंतर में दृढ़ निश्चयी होता हुआ, लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये तीव्रता से प्रेरित होता है। उसको स्वाभाविक रूप से ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं कि लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मुझे ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क करना चाहिये, जो लक्ष्मीवान् हो चुके हैं अथवा लक्ष्मी प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न होकर कुछ सफलता भी प्राप्त कर चुके हैं; साथ ही ऐसे साहित्य का अध्ययन करे बिना भी नहीं रह सकेगा, जिसके द्वारा लक्ष्मी प्राप्त करने के सुगम मार्ग का ज्ञान हो सके। साथ ही उसको ऐसे सफल व्यक्तियों के प्रति तथा ऐसे साहित्य के प्रति सहज ही अंदर में बहुमान तथा आदरभाव आये बिना भी नहीं रह सकता तथा व्यवहार में प्रगट हुये बिना भी नहीं रह सकता।

इसीप्रकार आत्मार्थी, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है अर्थात् भगवान बनना चाहता है, वह जीव सर्वप्रथम भगवान बनने के लिये, भगवान का स्वरूप समझकर उससे होने वाले लाभ को समझने का प्रयास करेगा। अपनी वर्तमान स्थिति को भी समझेगा। दोनों के मिलान करने पर भगवान बनने की वास्तविक रुचि जाग्रत होगी। ऐसा होने पर ही भगवान बनने का वास्तविक पुरुषार्थ प्रारम्भ हो सकेगा। इसलिए भगवान बनने के उपाय अर्थात् मार्ग खोजने का प्रयास करेगा। मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों को सरल बनाने के लिये एवं तत्संबंधी बाधाओं को दूर करने के लिये वह उस मार्ग को बतलाने वाले साहित्य का भी अत्यन्त रुचि एवं आदरभावपूर्वक अध्ययन करेगा तथा जो स्वयं भगवान बन गये हैं, उनके प्रति अंदर से उत्कृष्ट आदरभाव आये बिना रह ही नहीं सकता। तथा उस मार्ग के द्वारा जो भगवान बनने के मार्ग में लगे हुए हैं और

हमसे आगे बढ़ चुके हैं, उनके प्रति भी आदरभाव सहित अपनी कठिनाइयों को दूर कर आगे बढ़ने के लिये आतुरतापूर्वक समागम करने का प्रयास करे बिना कैसे रह सकेगा?

तात्पर्य यह है कि यह एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जिस व्यक्ति को जैसा बनना होता है, उसमें पारंगत पुरुषों के प्रति उसको सहज ही आदरभाव, पूज्यभाव आये बिना नहीं रह सकता, उस विषय के साहित्य का अध्ययन करे बिना भी नहीं रह सकता तथा उस विषय में सफलता प्राप्त पुरुषों की संगति प्राप्त करे बिना भी नहीं रह सकता।

इसीप्रकार आत्मार्थी जीव को भी भगवान बनने की तीव्र लगन लगने के कारण, पूर्ण दशा को प्राप्त परमात्माओं के प्रति तथा उस दशा को प्राप्त कराने की मार्गदर्शक जिनवाणी के प्रति, उसीप्रकार सफलता प्राप्त कर अपने से आगे बढ़ चुके ऐसे साधक पुरुषों के प्रति तारतम्यता-नुसार आदरभाव, विनयभाव, पूज्यभाव आये बिना रह ही नहीं सकता।

इन ही कारणों से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है।

इसीप्रकार नव तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति प्रगट हुये बिना किसी जीव को यथार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इस ही कारण नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है।

अज्ञानी को ज्ञानी बनने के पूर्व उपरोक्त दोनों विषय नियम से निमित्त होते ही हैं।

जिस आत्मार्थी को यथार्थ (निश्चय) सम्यग्दर्शन अर्थात् साक्षात् त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहंपना प्रगट होकर आत्मदर्शन प्राप्त हो गया हो, उसको भी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सहज ही भक्ति आदि में और भी ज्यादा प्रगाढ़ता आ जाती है एवं नव तत्त्वों की श्रद्धा भी पक्की प्रगाढ़ हो जाती है। जैसे-जैसे आत्मार्थी को सफलता होती जाती है, उत्तरोत्तर रुचि की भी वृद्धि होती जाती है, इसी कारण इनको सम्यग्दर्शन के सहचारी भी कहा गया है।

आत्मज्ञता प्राप्त जीव को जो यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न हुई, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उसके साथ नवतींव की श्रद्धा एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा निमित्त होने के साथ-साथ सहचारी भी बने रहते हैं। निश्चय के साथ बने रहकर भी उसको बाधा नहीं पहुँचाते इसलिए इनको सहचारी भी कहा जाता है। लेकिन ये साथ में रहते हुये भी वास्तविक (निश्चय) सम्यग्दर्शन नहीं हैं, इसलिये इनको सम्यग्दर्शन का व्यवहार भी कहा है, और इस व्यवहार सम्यग्दर्शन को भी सम्यग्दर्शन के नाम से कह दिया जाता है।

हमारा लक्ष्य वीतरागता प्राप्त करने का है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उसमें बाधक न होकर सहचारी बना रहता है। इस कारण इसको कभी-कभी उपादेय भी कहा जाता है, लेकिन आत्मज्ञतारूप निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य में इसका उपयोग हो, तभी इसको साधकपने की संज्ञा संभवित है। अन्यथा अकेला व्यवहार सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञता प्राप्त नहीं करा सकता इसलिये व्यवहार भी नहीं कहलावेगा।

प्रमाणनयैरधिगमः

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि प्रमाण और नय के द्वारा यथार्थ ज्ञान होता है। हमारा मूल प्रयोजन तो अपने आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान करना है। समस्त द्वादशांग का कथन, वस्तुओं के स्वरूप समझाकर उनको ज्ञान द्वारा स्व-पर के विभागीकरण पूर्वक समझाने का है। वह विभागीकरण प्रमाण नयादि के माध्यम से ही होता है।

स्वतत्त्व का स्वरूप समझकर मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए हेय-उपादेय का ज्ञान भी नयज्ञान के द्वारा ही होता है। हेय-उपादेय के ज्ञान द्वारा हेय की उपेक्षा कर, उपादेय के प्रति अपने-आपको समर्पित कर देने पर, नयादि के विकल्प भी आत्मोपलब्धि के समय समाप्त हो जाते हैं और आत्मार्थी आत्मदर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद के सूत्र-१ में भी कहा है —

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"

अर्थ :— "प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का फल अज्ञान-निर्वृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है।"

अतः हमको भी आत्मोपलब्धि के लक्ष्यपूर्वक जिनवाणी के कथन का मर्म समझने के लिए नयज्ञान का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से हमको मनोयोगपूर्वक नयज्ञान के अभिप्राय को अवश्य समझना चाहिये।

प्रमाण-नय के लक्षण

वस्तु के सामान्य अंश के ग्रहण करने वाले ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय और विशेष अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है तथा दोनों अंशों को एक साथ ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

परीक्षामुख के परिच्छेद ४ के सूत्र-१ में कहा भी है —

"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"

अर्थ :— "सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है।"

राजवार्तिक के अध्याय - सूत्र ३३ में नय का लक्षण बताया है —

"प्रमाण प्रकाशितार्थविशेष प्ररूपको नयः।"

अर्थ :— "प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करने वाला नय है।"

आलापपद्धति में नय के स्वरूप को और भी स्पष्ट किया है —

"प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीतार्थैकांशों नयः श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यों व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्यतीति वा नयः।"

अर्थ :— प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है।"

नय के ३ भेद भी कहे हैं। समयसार की हिन्दी टीका के मंगलाचरण

में पण्डित जयचंदजी ने कहा है —

"शब्द, अर्थ, अरू ज्ञान, समय त्रय आगम गाये।"

शब्दनय, ज्ञाननय तथा अर्थनय (पदार्थनय) से भी नय के ३ भेद कहे हैं। कथन वह शब्दनय, ज्ञान जिसको विषय बनावे, वह अर्थनय तथा विषय करने वाले ज्ञान को ज्ञाननय कहते हैं। तीनों के स्वामी अलग-अलग हैं।

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुस्वभाव समझने के लिये उपरोक्त पद्धति समझना परम आवश्यक है, क्योंकि हर एक वस्तु अपने-अपने स्वभाववाली तथा एक साथ ही सामान्य-विशेषात्मक, अनन्त गुणों के समुदायरूप है। उनमें से स्वपर के रूप में विभागीकरण करने के लिये नयज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

आगमशैली एवं अध्यात्मशैली

उपरोक्त नयों का प्रयोग जिनवाणी में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों व अपेक्षाओं से किया गया है। इन दोनों ही अपेक्षाओं का प्रयोजन तो एकमात्र स्व-परके रूप में भेदज्ञान कराना है।

आगम में छह द्रव्यों की मुख्यता से और अध्यात्मरूप परमागम में आत्मद्रव्य की मुख्यता से कथन होता है। आगम शैली में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन मुख्य रहता है और अध्यात्मशैली में आत्मा के हित का प्रयोजन मुख्य रहता है। दोनों शैलियों में मूलभूत अन्तर यह है कि अध्यात्मशैली की विषयवस्तु आत्मा, आत्मा की विकारी-अविकारी पर्यायें और परवस्तुओं के साथ आत्मा के संबंध का अभाव मुख्य रहते हैं। आगमशैली की विषयवस्तु छहों जाति के समस्त द्रव्य, उनकी पर्यायें और उनके परस्पर के संबंध आदि मुख्य होते हैं। आगमशैली का प्रयोजन छह द्रव्यों के स्वरूप को समझाकर एक स्व में स्वपना स्थापन कराकर अन्य समस्त द्रव्यों को पर जान कर उनके प्रति परज्ञेयपने की श्रद्धा जाग्रत कर उपेक्षाबुद्धि प्रगट कराना है। अध्यात्मशैली का प्रयोजन अपनी स्वआत्मा में ही उत्पन्न विकारी-निर्विकारी पर्यायों में अनित्यता की मुख्यता से परपने

की मान्यता पूर्वक हेयपने की श्रद्धा कराकर उपेक्षाबुद्धि प्रगट करते हुए अपने ही त्रिकालीध्रुवज्ञायकभाव में स्वपना स्थापन कराना एवं परज्ञेयों के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा के आधार से, उनकी ओर से वृत्ति एवं उपयोग को समेटकर, आत्मसन्मुख कराने का उद्देश्य रहता है। इस दृष्टिकोण को मुख्य रखकर नयों के प्रकरण को समझना चाहिए।

नयज्ञान से लाभ

विश्व की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें द्रव्य छह जाति के मिलकर अनन्तानन्त हैं तथा आत्मा में त्रिकालीध्रुवस्वभाव भी है तथा अनित्य पर्याय स्वभाव भी है। सब एक साथ ही एक समय ही विद्यमान हैं। साथ ही ज्ञान में हर समय सब ही ज्ञात होने योग्य भी हैं। क्योंकि सबमें प्रमेयत्व गुण है।

जब ज्ञान की ओर विचार करते हैं तो क्षायिकज्ञान में तो यह सामर्थ्य है कि वह सबको एक साथ ही जान लेता है, अतः उस ज्ञान में तो विभागीकरण करने को कुछ रहता ही नहीं है। ऐसे ज्ञान का नाम ही प्रमाणज्ञान है। ऐसा ज्ञान हमको प्राप्त नहीं है। हम छद्मस्थों का क्षयोपशम ज्ञान तो सम्पूर्ण विश्व तो दूर अपनी ही संपूर्ण आत्मा को भी एक समय में अपने ज्ञान का विषय नहीं बना सकता।

अतः जब हमारा ज्ञान किसी एक वस्तु को जानने के सन्मुख होता है, तो अन्य वस्तुओं का अस्तित्व होते हुए भी वे हमारे उपयोग के बाहर रह जाती हैं। इसी प्रकार जब हमारा ज्ञान अपनी आत्मा के त्रिकालीभाव को जानता है, तब अपनी ही पर्यायों का अस्तित्व रहते हुए भी वे ज्ञान में नहीं आ पातीं। इसी प्रकार पर्यायों के ज्ञान के समय त्रिकालीभाव जानने में नहीं आ पाता। अतः हमारे ज्ञान को यह अनिवार्य हो जाता है कि वह किसी एक को मुख्य बनावे, उसी समय अन्य विषय गौण हो ही जाते हैं। इस ही प्रक्रिया का नाम नय है और यह अनिवार्य स्थिति है। इसी स्थिति को समझने का नाम नयज्ञान है। इसको समझे बिना स्व-पर का विभागीकरण संभव ही नहीं है। स्व-पर के विभागीकरणरूप भेदज्ञान

के बिना मोक्षमार्ग ही संभव नहीं है। इन्हीं कारणों से नयज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो समयसार कलश में भेदज्ञान की निम्न शब्दों में महत्ता बताई है —

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

श्लोकार्थ :— "जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं, और जो कोई बंधे हैं, वे उसी के अभाव से बंधे हैं।"

ऐसे भेदज्ञान को कब तक भाना चाहिए, यह भी कलश १३० में कहा है -

भावयेद्भेदविज्ञान मिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥१३०॥

श्लोकार्थ :— "यह भेदविज्ञान अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तब तक भाना चाहिये जब तक (ज्ञान) परभावों से छूटकर ज्ञान-ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जाये।"

अतः नयज्ञान के द्वारा स्व को मुख्य रखकर उसको उपादेयरूप एवं पर को गौण करके उसको हेय रूप समझना ही नय का उद्देश्य एवं परम उपकार है। इस ही कारण नयचक्र में स्व को मुख्य करके जानने वाले निश्चयनय को ही पूज्यतम कहा है, प्रमाण को नहीं। क्योंकि हमारा प्रयोजन तो मात्र निश्चयनय से सिद्ध होता है, प्रमाण चाहे क्षायिकज्ञान हो, लेकिन वह हमारे को है नहीं, अतः उसके द्वारा हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए हमको तो वह अप्रयोजनभूत है। इसप्रकार अपना प्रयोजन साधने की दृष्टिपूर्वक नयज्ञान को समझना आवश्यक है।

नयों का प्रयोजन

अनन्तानन्त द्रव्यों एवं पर्यायों में खोई हुई निज आत्मा को, सबके स्वभावों की पहिचान कराकर, उनमें से खोज कर, उसे प्राप्त करा देने का मार्ग बताना ही समस्त जिनागम का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति का माध्यम

नयज्ञान है इसलिये नयज्ञान का तात्पर्य भी आत्मा को प्राप्त कराना अर्थात् अध्यात्म प्राप्त करना ही है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीका में अध्यात्म का अर्थ किया है —

"अध्यात्मशब्दस्यार्थ कथ्यते :— मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्प-जालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधियदनुष्ठानं तदध्यात्ममति "

अर्थ :— "अध्यात्म" शब्द का अर्थ कहते हैं — मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

नयों के संबंध में भी यही दृष्टिकोण आलापपद्धति गाथा ३ से भी स्पष्ट होता है —

"णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणदेऊ पज्जदव्वत्थियं मुणह॥"

अर्थ :— सर्व नयों के मूल निश्चय और व्यवहार - ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

उपरोक्त गाथा से फलित होता है कि आगम भी अध्यात्म का पूरक है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार तो अध्यात्म के नय हैं और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक मुख्यत: आगम के नय हैं। इस गाथा में आगम के नयों को अध्यात्मनयों का हेतु कहा है। तात्पर्य स्पष्ट है कि सभी नयों का एवं कथनों का तात्पर्य तो आत्मोपलब्धि कराना ही है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का प्रयोग मुख्यत: छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन सिद्ध करके उनमें से स्वद्रव्य को स्व के रूप में तथा अन्य सबको पर के रूप में सिद्ध कर भेद-ज्ञानपूर्वक श्रद्धा कराना है। अत: दोनों नय वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराते हैं। द्रव्य है प्रयोजन जिसका वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय है प्रयोजन जिसका वह पर्यायार्थिक नय है। इन दोनों नयों के विषय अपरिवर्तनीय है अर्थात् द्रव्य हमेशा द्रव्य ही रहेगा, पर्याय हमेशा पर्याय ही रहेगी। अत: इन नयों का उद्देश्य वस्तु जैसी है, वैसी ही बताने का है। लेकिन जानने के समय अपनी रुचि के अनुसार ज्ञाता एक

को मुख्य, एक को गौण रखते हुए जानता है, समझता है। अतः इन दोनों नयों में जानने एवं समझने की अपेक्षा मुख्य-गौण व्यवस्था चलती है।

निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोग मात्र स्वद्रव्य में ही होता है, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के प्रयोग द्वारा छह द्रव्यों से भिन्न कर अपने स्वद्रव्य में स्वपना स्थापित किया था; अब उसी में ही निश्चयनय तो त्रिकालीध्रुवभाव को अपनी ही पर्यायों सहित, सभी ज्ञेय मात्र से भेद कराकर, अपने ध्रुवभाव एक में ही स्वपना स्थापित कराता है। व्यवहारनय अपनी ही आत्मा में बसे हुए अनन्त गुणों एवं इनकी पर्यायों का ज्ञान कराकर त्रिकालीध्रुवभाव से उन सबकी भिन्नता का ज्ञान कराकर उनमें परत्वबुद्धि उत्पन्न कराना है। अतः आत्मोपलब्धि कराने के प्रयोजन की पूर्ति के लिये ही इन नयों का प्रयोग होता है।

इन नयों का प्रयोग अपने प्रयोजनसिद्धि के लिये मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक ही कार्यकारी है। इन नयों के प्रयोग में आत्मोपलब्धि का प्रयोजन मुख्य होता है। आगम पद्धति द्वारा समझने के प्रयोजन में तो द्रव्य की स्थिति समझने के लिये पर्याय को गौण करना होता है, इसीप्रकार पर्याय समझते समय द्रव्य को गौण करना पड़ता है; तब विश्व की व्यवस्था समझी जा सकेगी। लेकिन आत्मोपलब्धि के लिये तो त्रिकाली ज्ञायक भाव तक पहुँचने के लिये क्रमशः भेद करने में, जिसको मुख्य किया जावे, वह निश्चय हो जाता है और जिससे भिन्न किया, वह व्यवहार होकर गौण एवं अभूतार्थ हो जावेगा। इसीप्रकार करते हुये क्रमशः बढ़ते-बढ़ते परम शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत त्रिकालीज्ञायक अकेला ही रह कर बाकी सब व्यवहार होकर गौण होने पर आत्मोपलब्धि प्राप्त हो जावेगी। इसप्रकार जिसको प्रयोजनभूत समझेगा उसे मुख्य करके जानेगा, वही निश्चय होगा, अन्य सब व्यवहार अर्थात् उपेक्षणीय हो जावेंगे।

इसप्रकार का आगम-अध्यात्म के नयों में मूलभूत अंतर है। आगम का उद्देश्य ज्ञान कराना है तथा अध्यात्म का उद्देश्य आत्मोपलब्धि का प्रयोजन सिद्ध करना है। दोनों शैलियों में यह मूलभूत अंतर है।

मुख्य-गौण व्यवस्था दोनों प्रकार के नयों में अनिवार्य है। प्रमाण में यह व्यवस्था नहीं है।

उपरोक्त दृष्टिकोण को मुख्य रखकर नयज्ञान के द्वारा जिनागम का रहस्य समझना चाहिये।

यहाँ हमारा उद्देश्य नयों के भेद-प्रभेदों में उलझाने का नहीं है, यहाँ तो मात्र नयों का दृष्टिकोण समझाने का उद्देश्य है। इस संबंध की विस्तृत जानकारी के लिये डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल की "परमभावप्रकाश नयचक्र" नामक पुस्तक का अभ्यास करना चाहिये। लगभग ४०० पृष्ठों की उक्त पुस्तक में इस विषय पर बहुत गंभीर व विस्तृत विवेचन है।

प्रश्न :— कोई कहे कि हमारी बुद्धि नयों को समझने में कार्य नहीं करती तो क्या हमको मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होगा?

समाधान :— ऐसा नहीं है, मोक्षमार्ग का मूल आधार तो स्व-पर का भेद विज्ञान है, जब मुझे भगवान सिद्ध बनना है, ऐसा मैंने ध्येय बना लिया है तो सिद्ध भगवान की पूर्ण सामर्थ्य जो उनमें प्रगट हो गई है; वह सामर्थ्य ही मेरे में भी विद्यमान है। वही सामर्थ्य तो विकसित होकर मैं स्वयं भगवानसिद्ध बन सकूँगा। अत: उस खजाने को खोजकर, उस में ही स्वपना-अपनापन स्थापित करना पड़ेगा, तभी तो उस सामर्थ्य को विकसित किया जा सकेगा। अत: उस खजाने को खोजने की व "मैंपना" स्थापित करने की प्रणाली का नाम ही भेदज्ञान है। उस भेदज्ञान की सिद्धि नयज्ञान से होती है। इसलिये नय ज्ञान की आवश्यक जानकारी महत्वपूर्ण है। फिर भी अगर कोई महान पुरुषार्थीजीव गुरु उपदेश सुनकर अपने उस खजाने को अर्थात् त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व को सीधा प्राप्त कर सके तो ऐसा भी संभव है; जैसा भगवान महावीर के जीव ने सिंह की पर्याय में गुरु उपदेश द्वारा सीधा ही अपने ध्रुवस्वभाव में अपनापन स्थापित कर, ज्ञान में ज्ञात होने वाले समस्त ज्ञेय मात्र में से अपनापना समेटकर, उपयोग को स्व सन्मुख कर दिया तो फलस्वरूप आत्मानुभव प्राप्त करने में सफल हो गया।

नयज्ञान के द्वारा, भेदज्ञान करके जिसमें अपनापन स्थापित करना था, वही कार्य सीधा ही उनने कर लिया तो नयज्ञान के द्वारा जो भी प्राप्त करना था, वह सीधा प्राप्त हो गया। इसप्रकार मोक्षमार्ग का मूल तो स्व-पर का भेदज्ञान है उसके बिना मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। सामान्य संसारी प्राणी ने अनेक ज्ञेयों में मेरापना मान रखा है, उन सबमें से मेरापना हटाकर, अपने ज्ञायकतत्त्व में मेरापना प्रगट करने का कार्य नयज्ञान के अभाव में होना संभव नहीं है; इसलिये हमको नयज्ञान की आवश्यक जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। नयज्ञान बहुत जटिल विषय नहीं है, अतः इसके नाम से डरकर दूर भागने की कोशिश, मोक्षमार्ग से दूर हटने के समान होगी। इतनी बात अवश्य है कि इस विषय की विस्तारपूर्वक जानकारी न भी हो तो आवश्यक जानकारी के बिना आत्मोपलब्धि का मार्ग समझना असंभव है। आत्मोपलब्धि के काल में तो नयादि के विकल्प भी सब विलय को प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन उससे पूर्व तो उनकी जानकारी अत्यन्त आवश्यक भी है। नयचक्र की गाथा ६८ में कहा भी है —

"तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा॥"

अर्थ :— "तत्त्वान्वेषण-काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।"

नयों के भेद-प्रभेद

आगम के नैगम, संग्रह, व्यवहार - ये तीनों नय द्रव्यार्थिकनय के हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवं भूत ये चारों नय पर्यायार्थिकनय के हैं।

उपरोक्त द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिकनय आगम के नय होने से अकेले आत्मद्रव्य की अपेक्षा नहीं समझना। आगम के नयों का कथन

विश्व के समस्त द्रव्यों की अपेक्षा से किया जाता है। उनका विषय समस्त द्रव्य व उनकी पर्यायें होती हैं।

आगम के नयों में आये व्यवहारनय का अर्थ अध्यात्म के व्यवहारनय के अनुसार नहीं समझना। आगम के व्यवहारनय का विषय तो अभेदरूप गृहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यन्त भेद करना है। विशेष जानकारी के लिए "परमभावप्रकाशक नयचक्र" का अध्ययन करें।

इस पुस्तक का विषय आत्मोपलब्धि होने से, यहाँ आगम के नयों पर चर्चा नहीं करेंगे; आवश्यकतानुसार अध्यात्म की पूर्ति के लिये इन पर भी चर्चा होना संभव है।

अध्यात्मनय :— अध्यात्म में प्रवेश करने से पूर्व द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक "उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" के माध्यम से जगत के सभी द्रव्यों की व उनकी प्रत्येक पर्याय की स्वतंत्रता श्रद्धा में नहीं बैठेगी (जमेगी), तब तक परद्रव्यों के प्रति कर्ताबुद्धि नहीं छूट सकती। उसके बिना अध्यात्म में प्रवेश होना असंभव है। जब तक ऐसी श्रद्धा जाग्रत नहीं हो कि जगत में मेरा स्व तो अकेला मैं ही हूँ, मेरे रूप से किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इसप्रकार सारे जगत से संबंध तोड़कर अकेले अपने आत्मा में अनुसंधान करना है तब, सर्वप्रथम आत्मा के द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नय का स्वरूप समझना आवश्यक हो जाता है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की परिभाषा समयसार गाथा १३ की टीका में निम्नप्रकार से दी है -

"तत्र द्रव्यार्थात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः।"

अर्थ :— "द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में जो मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है और जो मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है। यहां अनुभव का अर्थ ज्ञान समझना।"

जब ज्ञान का विषय द्रव्य हो तो द्रव्य की अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा अनेक भेद पड़ जाते हैं। जैसे विकारी द्रव्य, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है, शुद्ध द्रव्य, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है आदि अनेक भेद पड़ जाते हैं। वक्ता अथवा साधक के अभिप्राय अनुसार द्रव्य को जिस रूप में ज्ञान का विषय बनाया जावे, उसको उसी नाम से कह दिया जाता है। इसप्रकार नय के अनेक नाम पड़ जाते हैं।

इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय को भी जानना चाहिये। लेकिन पर्यायार्थिकनय का विस्तार द्रव्यार्थिकनय से भी बहुत अधिक है। पर्यायार्थिक का मुख्य विषय तो एक समयवर्ती उत्पाद-व्ययरूपपर्याय है। लेकिन उस पर्याय से संबंधित जितने भी पदार्थ हैं, वे सब भी इसी नय के विषय होते हैं। शरीर से संबंधित असमानजातीयपर्याय आदि तथा वक्ता अभेद द्रव्य में भेद करके भेदों को समझावे तो वे सब भी पर्यायार्थिकनय के विषय होते हैं।

सारांश यह है कि एक अकेले त्रिकालीद्रव्य के अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान के विषय बनते हैं, वे सब पर्यायार्थिकनय के विषय ही होते हैं। इसप्रकार पर्यायार्थिकनय का बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है और विषयों की मुख्यता से पर्यायार्थिकनय के भी अनेक भेद हो जाते हैं। लेकिन गुणों को द्रव्यों से अभेद करके द्रव्य को विषय बनावे तो वही द्रव्यार्थिक नय का विषय हो जाता है और भेद करके गुणों को विषय बनावे तो वही पर्यायार्थिकनय के विषय हो जाते हैं। नयों का प्रयोग मूलतः वक्ता अथवा ज्ञाता के अभिप्राय अनुसार होता है।

निश्चयनय-व्यवहारनय :— ये दोनों नय अध्यात्म के नय हैं। इन नयों में प्रयोजन सिद्ध करना मुख्य रहता है, वस्तु मुख्य नहीं रहती। प्रयोजन तो एक मात्र वीतरागता है।

उसकी सिद्धि के लिये जिस विषय को मुख्य बनाया जावे, वही प्रयोजनभूत होने के कारण निश्चय होता है और उसको जानने वाली ज्ञान

पर्याय को निश्चयनय कहते हैं। तत्समय ही इससे अतिरिक्त जो भी विषय रह जाते हैं, वे सब उस समय गौण हो जाते हैं तथा उपेक्षणीय होने से सब व्यवहार हो जाते हैं। उनको जानने वाली पर्याय व्यवहारनय कही गई है। जैसे परद्रव्यों के साथ अनादि काल से चली आ रही एकत्वबुद्धि-कर्तृत्वबुद्धि का अभाव करने का प्रयोजन होने के लिये विकारी निर्विकारी पर्यायों सहित निजआत्मा मुख्य होता है तो वह निश्चय और इसको जाननेवाली पर्याय निश्चयनय कहलाती है; अन्य सभी द्रव्य अपने ज्ञान में आते हुए भी गौण होकर उपेक्षित होने से ही, वीतरागता रूपी प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा। अत: उनको व्यवहार कहकर हेय कहा जाता है।

जब विकारी भावों का कर्तृत्व छुड़ाना होता है तो ज्ञानक्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है, अत: उसको मुख्य करके निश्चय कहा जाता है। और पहले जिसको मुख्य और निश्चय बनाया था उसी विकारीदशा को गौण कर उपेक्षणीय मानकर व्यवहार कह दिया जाता है और छोड़ने योग्य माना जाता है जब पर्यायमात्र का कर्तृत्व छुड़ाना हो, तब त्रिकाली को मुख्य करके निश्चय कहा जाता है और ज्ञानक्रिया भी गौण एवं व्यवहार होकर उपेक्षणीय हो जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

आलापपद्धति में निश्चय एवं व्यवहारनय का स्वरूप निम्नप्रकार बताया है —

"अभेदानुपचरितया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः।
भेदोपचारतया वस्तु व्यवहृत इति व्यवहारः ॥

अर्थ :— अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चय है और भेद तथा उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार है।"

इन निश्चय-व्यवहार नयों के भी वक्ता एवं ज्ञान के अभिप्राय अनुसार अनेक भेद पड़ जाते हैं। व्यवहारनय के जो भेद पड़ते हैं, उनमें जो भाव आत्मपरिणामों के साथ संबंध रखते हैं, उनको विषय बनानेवाली

पर्याय को साधारणतया सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं, तथा जो विषय आत्मपरिणामों से संबंध नहीं रखते ऐसे विषयों को जानने वाली पर्याय को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। इनके भी उपचरित-अनुपचरित आदि अनेक भेद पड़ते हैं। उनकी विस्तृत जानकारी "परमभावप्रकाशक नय चक्र" ग्रन्थ से प्राप्त करें।

निश्चय-व्यवहारनय का मुख्य प्रयोजन तो मोक्षमार्ग ही है। इनका सम्यक प्रकार से उपयोग किये बिना मोक्षमार्ग कभी प्रारंभ नहीं हो सकता। अतः इन नयों के संबंध में विस्तार से चर्चा भाग-३ में भी की जावेगी। आत्मार्थी जीव को उसका भी अध्ययन करना प्रयोजनभूत है।

निश्चय-व्यवहारनय एवं निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में अंतर

उपरोक्त दोनों के अंतर को समझना मोक्षमार्ग में बहुत आवश्यक है। क्योंकि नय तो ज्ञान की पर्याय है, उसका कार्य तो मात्र जानना ही है। मोक्षमार्ग तो श्रद्धा एवं चारित्रगुण की पर्याय हैं, श्रद्धा का कार्य है "अहंपना" स्थापन करना और चारित्रगुण का कार्य है श्रद्धा ने जिसको स्व मान लिया हो उस ही में तन्मय होना। अतः निश्चय-व्यवहारनय से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग अलग ही है।

निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति है। उस परिणति को जानना वह ज्ञान का कार्य है, उसके भेद नय हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५० पर कहा है कि —

"प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करे सो निश्चयनय, और उस ही को अन्य द्रव्य का निरूपण करे सो व्यवहारनय है ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं। कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं।"

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति है, वह नय नहीं है। नय तो उस परिणति को जाननेवाली पर्याय है। दोनों में

एक ही प्रकार के शब्द निश्चय-व्यवहार के उपयोग में आने से भ्रमित नहीं होना चाहिये। इस विषय का स्पष्टीकरण भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९ पर निम्नप्रकार से किया है —

"सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय, सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।"

इस कथन से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति है। उसको निरूपित करनेवाली, जाननेवाली ज्ञान की पर्याय, वह नय है।

पृष्ठ २४१ पर और भी स्पष्ट किया है कि — "एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है। उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव रूप निरूपण करना, सो व्यवहार नय है।"

इसप्रकार मोक्षमार्गरूप तो आत्मा स्वयं परिणमता है। अतः वह तो द्रव्य की परिणति है। जिस वीतराग परिणति के साधन से मोक्ष प्राप्त होता है उस परिणति को निश्चय मोक्षमार्ग कहा गया है। और वीतराग परिणति के साथ ही वर्तनेवाली रागपरिणति, जो स्वयं तो मोक्षमार्ग है नहीं, लेकिन साथ रहते हुए भी वीतराग परिणति का घात नहीं करती, इसलिये उसको भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा गया है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। ये दोनों तो परिणति हैं, नय नहीं है।

नय का कार्य तो मात्र जानने का है। अतः यथार्थ को यथार्थ जाने व कहे वह निश्चयनय है और जो जैसा कहा गया हो वैसा न हो तो भी, उसको किसी अपेक्षा से यथार्थ कहा जाय व जाना जाय, सो व्यवहारनय है। जैसे सराग परिणति को मोक्षमार्ग जानना व कहना व्यवहारनय है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहारनय एवं निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का अंतर समझकर यथायोग्य ज्ञान-श्रद्धान करना एवं प्रवर्तना आवश्यक है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

वस्तु का स्वरूप ही अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त शब्द ही अनेक और अन्त दो शब्दों से मिल कर बना है। अनेक अर्थात् एक से अधिक, (दो से लगाकर अनन्त) हैं अन्त जिसके और अन्त का अभिप्राय है आत्मा के अनन्त गुण-धर्म आदि। हर एक वस्तु अनन्तगुणों का समुदाय रूप एक वस्तु है। अतः वस्तु स्वयं ही अनेकान्तात्मक है। उस अनेकान्तात्मक वस्तु को समझाने वाली कथन पद्धति को अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद कहा जाता है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु को समझानेवाली होने से उसको अनेकान्तवाद कहा जाता है। स्याद्वाद इसलिये कहा जाता है कि गुण अन्त होने से किसी एक गुण के माध्यम से वस्तु को समझाना पड़ता है वक्ता की दृष्टि में उस समय अन्य गुण रहते हुए भी उनका कथन नहीं किया जा सकता इसलिये स्यात् पद लगाकर ही अथवा ज्ञान में रखकर ही समझाना पड़ता है। अतः उस कथन पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। इस ही कारण अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक संबंध है।

स्याद्वाद का प्रयोग भी अभेद वस्तु को समझाने के लिऐ ही हैं। वस्तु तो अनन्त गुणों का समूह रूप अनेकान्तात्मक एक है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि उसको भेद करके ही समझाया जा सकता है। सब गुण एक साथ बताये ही नहीं जा सकते। इसलिये उसी वस्तु के अन्य गुण ज्ञान में होने पर भी समझाने के लिये एक को मुख्य करके अन्य को गौण करना अनिवार्य हो जाता है। अतः स्याद्वाद का उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है। इसप्रकार अभेदवस्तु में, एक ही नहीं अनन्तगुण विद्यमान हैं, यह समझाने के लिये "भी" शब्द का प्रयोग स्याद्वाद का सूचक है। जैसे आत्मा में ज्ञान भी है, चारित्र भी है, सुख भी है, श्रद्धा भी है, आदि-आदि।

स्याद्वाद का दूसरा प्रयोग "ही" के रूप में भी किया जाता है। जहाँ वस्तु में बसे हुए अनन्त गुणों में से, किसी एक गुण की अन्य गुण से भिन्नता सिद्ध करनी है अथवा पर्याय की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता सिद्ध

करनी हो, वहाँ पर "ही" शब्द का प्रयोग स्याद्वाद का ही सूचक है। जैसे ज्ञानगुण, श्रद्धागुण नहीं है, श्रद्धागुण, ज्ञानगुण नहीं है ज्ञान ज्ञान ही है, श्रद्धा श्रद्धा ही है, आदि-आदि।

इसीप्रकार जब एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न सिद्ध करना हो, तो "ही" शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे जीव जीव ही है, अजीव नहीं, अजीव अजीव ही है, जीव नहीं, आदि-आदि।

तात्पर्य यह है कि "ही" शब्द के द्वारा "भी" तथा "भी" शब्द के द्वारा "ही" मात्र एक ही वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने का एवं समझाने का उद्देश्य होता है। जिनवाणी के सब कथनों का तात्पर्य तो एकमात्र वीतरागता है। अत: "ही" के द्वारा अन्य द्रव्यों से अपने-आपको भिन्न करके, पर से संबंध तोड़कर, वीतरागता प्राप्त कराने का प्रयोजन है। तथा "भी" के प्रयोग द्वारा अपने अंदर बसनेवाले अनन्त गुणों के कार्य एक साथ, होते हुए भी, एक-दूसरे के आधीन नहीं होकर, अपना-अपना कार्य निरपेक्ष रूप से करते रहते हैं। ऐसी निःशंकता एवं दृढ़ता उत्पन्न कराकर वीतरागता उत्पन्न कराने का प्रयोजन है।

स्याद्वाद एवं अनेकान्त का स्वरूप बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में कहते हैं —

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह कहता है कि अनेकान्त स्वभावी होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। जो वस्तु सत् है वही असत् है, आदि-आदि। इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।"

इसप्रकार परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक युगलों (जोड़ों) को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

स्याद्वाद का सूचक स्यात् पद का ठीक-ठीक अर्थ लगाना चाहिये। इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम प्रचलित है। कोई स्यात् का अर्थ संशय करते

हैं, कोई शायद, तो काई संभावना, आदि-आदि। इस तरह स्याद्वाद को संशयवाद, शायदवाद या संभावनावाद बना देते हैं। लेकिन स्याद्वाद तो संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है।

इसी प्रकार कुछ अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में मात्र "भी" का ही प्रयोग है "ही" का नहीं। उन्हें "भी" में समन्वय की सुगंध और "ही" में हठ की दुर्गन्ध आती है, लेकिन यह उनका अज्ञान है। "ही" और "भी" दोनों का प्रयोग एक ही वस्तु को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक है। जैसे जीव की पहिचान कराना हो तो कहना होगा - जीव, जीव ही है, अजीव नहीं, धर्म नहीं, अधर्म नहीं, आकाश नहीं, आदि-आदि। इसप्रकार "ही" शब्द के प्रयोग द्वारा निःशंकता एवं दृढ़ता ही उत्पन्न होगी। साथ ही जीव की पहिचान के लिये ही यह भी आवश्यक होगा कि जीव में ज्ञान भी है, श्रद्धा भी है, चारित्र भी है, सुख भी है आदि-आदि के द्वारा "भी" का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। तब ही भले प्रकार जीव पहिचाना जा सकता है। अतः दोनों का ही प्रयोग एक ही वस्तु को समझने के लिये अनिवार्य है।

अनेक विपरीत मान्यताओं के समन्वय के लिये "भी" शब्द का प्रयोग करना स्याद्वाद सिद्धान्त के साथ अन्याय है, विपरीत प्रयोग है। गृहीत मिथ्यात्व के पोषण द्वारा अपनी ही तलवार से अपना गला काटने के समान है। "ही" को एकान्तवाद का सूचक कहना नितान्त अज्ञान है "ही" का प्रयोग तो सम्यक् एकान्त का सूचक है।

इसप्रकार स्याद्वाद एवं अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रयोजन समझकर यथास्थान उपयोग कर वस्तु स्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिये। यही आत्मार्थी का कर्तव्य है।

उपसंहार

सुखी होने का उपाय भाग-२ में आत्मा की अन्तर्दशा एवं स्वतत्त्व के अनुसंधान द्वारा यथार्थ निर्णय करने के संबंध में विस्तृत चर्चा की, उसका संक्षेप में पुनरावलोकन करते हैं।

सुखी होने का उपाय भाग-१ में हमने विश्व की व्यवस्था एवं वस्तु व्यवस्था समझकर यह निर्णय किया है कि इस लोक में छह जाति के अनन्त द्रव्य हैं। उन सबका स्वतंत्र अस्तित्व है। उनमें से एक द्रव्य मैं भी हूँ, उन सबका भी अस्तित्व तो है लेकिन मेरे से भिन्न होने से वे मेरे से पर ही हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए परिणमते हैं और मैं भी अपने-आप में रहता हुआ अपने में ही परिणमन करता रहता हूँ। मेरे कार्य में वे हस्तक्षेप नहीं कर सकते, उसीप्रकार मैं भी उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ऐसी मान्यता उत्पन्न होने पर, अनेक द्रव्यों के साथ परपना आजाने से कर्तृत्वबुद्धि का अभाव हो जाता है। इसप्रकार पर के प्रति भेदज्ञान हो जाता है। सारे जगत के कर्तृत्व के भार से हल्का हो जाता है।

इसी भाग के द्वारा हमने यह भी समझा कि हर एक वस्तु का स्वभाव, अपने स्वभावरूप परिणमने का ही है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य स्वभावरूप परिणमन कर सकता ही नहीं है। मैं भी एक द्रव्य हूँ, मेरा भी स्वभाव अपने स्वभावरूप परिणमने का ही है। मेरा स्वभाव तो मात्र जानना ही है अतः मेरा आत्मा तो जानने रूप क्रिया का कर्ता है अर्थात् ज्ञायक है। क्रोधादिभाव तो विभावभाव हैं, इसही कारण वे स्थाई रहते नहीं और ज्ञान तो स्वाभाविक भाव है, इसलिये कहीं किसी भी दशा में हो, नाश होता ही नहीं है।

इसप्रकार प्रमाणरूप भेदज्ञान की प्रक्रिया का आधार समझा। उपरोक्त प्रकार से छह द्रव्यों से अपने-आपको भिन्न ज्ञायकस्वभावी समझ कर सभी में परपना मानकर, अपने द्रव्य में ही सिमटकर आ जाना है।

उसके पश्चात् अपने आत्मा की अन्तर्दशा समझने की चेष्टा करता है। अपने अंतर में भी गुणभेदों की अनेकता तथा विकारी निर्विकारी पर्यायों की अनेकता आदि अनेक प्रकार के पलटते हुए भावों के ही दर्शन होते हैं। उन पलटते हुए भावों की भीड़-भाड़ में, स्थाई त्रिकालीभाव तो

कहीं दिखाई ही नहीं देता। अत: इस दूसरे भाग का मुख्य उद्देश्य उन सबमें से स्वआत्मतत्त्व (त्रिकाली भाव) को खोजकर निकालने की पद्धति समझने का है। इसमें आये हुए विषयों की जानकारी विषय सूची में है ही। अत: उनको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। आत्मार्थी को सूची के अनुसार सभी विषयों को मनोयोगपूर्वक समझकर, अपने त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व में अहंपना स्थापन करना चाहिये तथा अन्य सभी में परपना स्थापन कर उनको उपेक्षा योग्य मानकर उनके प्रति उत्साह की हीनता हो जानी चाहिए। ऐसे यथार्थ निर्णय के द्वारा ऐसी दृढ़तम श्रद्धा जाग्रत होनी चाहिए कि —

(१) मेरा अस्तित्व तो एकमात्र त्रिकालीज्ञायकध्रुवतत्त्व ही है। अन्य जो कुछ भी ज्ञान के जानने में आते हैं वे सब "मैं" नहीं, "मेरे" नहीं हैं। मेरे लिये तो मात्र पर हैं परज्ञेय तरीके ज्ञान में आ जाते हैं अत: वे अत्यन्त उपेक्षणीय हैं। जो जानने के लिये भी उपेक्षणीय हों, उनमें कुछ करने-धरने का तो प्रश्न ही नहीं रहता इसलिए मैं तो सबका अकर्ता हूँ।

(२) मेरा स्वभाव जानना मात्र ही नहीं, बल्कि स्व को जानने का ही स्वभाव है। स्वसन्मुखतापूर्वक ही पर को भी जानने का स्वभाव है। क्योंकि आत्मद्रव्य स्वक्षेत्र में रहकर ही तो जाननक्रिया करेगा। पर का तो स्व में अभाव ही है। अत: पर को जानेगा कैसे? लेकिन ज्ञान की स्वपरप्रकाशक शक्ति होने से तथा ज्ञेयद्रव्यों में प्रमेयत्वगुण होने से, उन ज्ञेयों के आकार, आत्मा के ज्ञान में स्वत: झलकने लगते हैं। अर्थात् आत्मा का ज्ञान ही स्वयं ज्ञेयाकाररूप हो जाता है। उन ज्ञान के आकारों को ही आत्मा जानता है। ज्ञेयों का तो वहाँ अंश भी नहीं है। इसप्रकार पर संबंधी ज्ञान भी आत्मा को होता अवश्य है, लेकिन ज्ञेयों को सीधा नहीं जानता; वरन् ज्ञेयाकारों के माध्यम से जानता है। इसीलिये ऐसे जानने को व्यवहारनय कहा गया है। व्यवहार से कहा इसलिए नहीं जानता ऐसा

तात्पर्य नहीं समझना। आत्मा की जाननक्रिया स्वसन्मुखतापूर्वक ही पर संबंधी स्व के ज्ञानाकारों को जानती है। इस अपेक्षा से ही आत्मा के ज्ञान को स्वपरप्रकाशी कहा जाता है। उन ज्ञेयाकार रूप स्वज्ञानाकारों को जानते समय ज्ञानी का तो, एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव में स्वपना होने से, इन ज्ञेयाकारों के प्रति परपना होता है; फलतः अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि से जानता है। फलतः वीतरागता को प्राप्त करता है। अज्ञानी उन ही ज्ञेयाकारों को जानते समय, आत्मतत्त्व के अज्ञान के कारण, उनमें एवं उनके विषयों के प्रति मेरापना मानने से रागी-द्वेषी होकर निरन्तर दुःखी एवं रागी-द्वेषी बना रहकर संसार बढ़ाता रहता है।

(३) ज्ञानी को अपने त्रिकाली भाव में अहंपना बना रहने पर भी परज्ञेय तरीके उसके ज्ञान में अपनी पर्याय की भी अनेक प्रकार की विविधताएँ जानने में आती हैं। उन सबको वह पर्यायस्वभाव जानकर अर्थात् पर्याय भी एक समय का सत् है, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है, उसको तो इस समय इस ही प्रकार परिणमना था, वैसी ही परिणमी है; उसको इस समय इस ही प्रकार परिणमने की योग्यता थी। ऐसी श्रद्धा होने से उनके प्रति मध्यस्थता वर्तती रहती है।

दूसरी ओर मेरे ज्ञानगुण की इस समय की पर्याय की योग्यता भी ऐसी ही थी कि स्व को जानते समय परज्ञेय के रूप में यह पर्याय ही ज्ञान में ज्ञेय बन सकती थी, इसलिये यह पर्याय ज्ञेय बनी है। ऐसी श्रद्धा के द्वारा अपनी पर्याय का कर्तृत्व भी समाप्त होकर अकर्ता होता हुआ निर्भार वर्तता है।

इसप्रकार जगत के कर्तृत्व से निर्भार ज्ञानी का उपयोग, एकमात्र स्वज्ञायक तत्त्व में विश्राम पाने के लिये ही उत्सुक रहता है, उसके उपयोग को अन्य कोई शरणभूत ही नहीं रह जाता, अतः जावे तो कहाँ? ऐसी दशा प्राप्त ज्ञानी का उपयोग, सर्वगुणों के साथ आत्मा से सम्मिलन कर आत्मानंद का उपभोग कर कृतकृत्य हो जाता है।

मेरे में ऐसी दृढ़तम श्रद्धा जाग्रत हो कि उपरोक्त मार्ग ही यथार्थ मार्ग है, इसी मार्ग द्वारा मुझे भी आत्मोपलब्धि हो सकेगी ऐसा विश्वास जाग्रत करना ही हमारा कर्तव्य है। उस मार्ग को ही आगम, न्याय, युक्ति एवं अपने में आते हुए अनुभव के माध्यम से यथार्थ अनुमान द्वारा पक्का निर्णय कराने का प्रयास इस पुस्तक के माध्यम से किया गया है।

आत्मार्थी ऐसा विचार करता है कि अनन्त काल से संसार परिभ्रमण का कारण एवं अपनी आत्मा में उठनेवाली राग-द्वेष संबंधी अशांति का कारण, एकमात्र स्वआत्मतत्त्व को भूलना है तथा परज्ञेय जो अत्यन्त उपेक्षणीय हैं, उनको अपने मान लेना है; फलस्वरूप उनके रक्षण आदि का प्रयास करते-करते भी असफलता प्राप्त करते हुए अत्यन्त दुःखी-दुःखी ही बना रहता हूँ। लेकिन मुझे अब एक क्षण भी निरर्थक नहीं खोना है। यहाँ मुझे स्व के स्वरूप एवं पर के स्वरूप समझने की अनुकूलता प्राप्त हुई है, तो मुझे पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस मार्ग को समझना ही है। ऐसी जिज्ञासा प्राप्त आत्मार्थी इस पुस्तक के विषय को मनोयोगपूर्वक हृदयंगम कर यथार्थ निर्णय को प्राप्त होगा और ऐसा मान लेगा कि मार्ग तो यही यथार्थ है और मुझे भी ऐसा ही भासित होता है। इस ही मार्ग पर चलने से मुझे आत्मोपलब्धि हो सकेगी। ऐसे दृढ़तम निर्णय को प्राप्त आत्मार्थी आगामी भागों में बताई जाने वाली प्रक्रिया के अनुसार आत्मोपलब्धि प्राप्त कर चिरकाल सुखी हो सकता है।

सभी आत्मार्थी बन्धु यथार्थ मार्ग समझकर, निर्णय एवं विश्वास में लाकर, पुरुषार्थ कर, आत्मलाभ प्राप्त करें— इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

***